UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186260
UNIVERSAL
LIBRARY

221
OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H 823.081 A31R Acc No. R&H 799
Author : राय नन्द कुमार
Title : [illegible]

Osmania University Library

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

H PGH

Call No. 83·081 Accession No. 7997

Author A 31R

Title राय नन्द कुमार

आचार्य की औपन्यासिक संचेतना

This book should be returned on or before the date last marked below.

अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना

प्रेरणा के स्रोत
अग्रज प्रो० वीरेन्द्रकुमार राय
की
पुण्य स्मृति
को
अश्रु-विगलित अर्घों में

—नन्दकुमार राय

अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना

डॉ० नन्दकुमार राय

शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली

॥ अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना ॥ आलोचना ॥
॥ डॉ० नन्दकुमार राय ॥

॥ प्रकाशक ॥
शारदा प्रकाशन
★ 33/1 भूलभुल्लैयां रोड, महरौली
नई दिल्ली-110030
★ 16/एफ-3, अंसारी रोड,
नई दिल्ली-110002

॥ मुद्रक ॥
जे० एस० प्रिंटर्स, दिल्ली

॥ मूल्य ॥
55·00 रुपये

॥ विजयदेव झारी द्वारा शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली के लिए प्रकाशित एवं जे० एस० प्रिंटर्स, मौजपुर, शाहदरा दिल्ली-110032 में मुद्रित ॥

AGYEYA KI AUPANYASIK SANCHETNA
[A critical study of Agyeya —as a Novelist]
by Dr. Nandkumar Roy Rs. 55.00

आलोक

अज्ञेय की औपन्यासिक संचेतना मेरी लेखन-यात्रा का तीसरा पड़ाव है। इस पड़ाव तक आते-आते ऐसा लगा कि अज्ञेय आधुनिक साहित्य के सर्वाधिक समर्थ, संवेदनशील और जीवन्त लेखक एवं कवि हैं। काव्य के क्षेत्र में ही नहीं अपितु कथा-साहित्य में भी उन्होंने प्रयोग-वैविध्य से काम लिया है। गिनती के नाम पर उनके उपन्यास केवल तीन हैं। फिर भी, इस उपन्यास-त्रयी के माध्यम से उन्होंने आधुनिक उपन्यास-साहित्य में शीर्षस्थता प्राप्त कर ली है। इसका मूल कारण यह है कि एक तो उन्होंने अपने इन उपन्यासों में आधुनिकता की चुनौती को सही अर्थों में स्वीकार किया है और दूसरी बात, जो अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उन्होंने अत्याधुनिक संवेदनाओं—कुण्ठा, संत्रास, नैराश्य, घुटन तथा टूटन आदि को रचनात्मक सम्प्रेषणीयता प्रदान की है तथा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मूल्यों को अन्वेषित कर उन्हें नये आयामों में आयत्त किया है। चूंकि उनके उपन्यासों में चिन्तन की गूढ़ता, प्रत्ययों की कसावट और संवेदना की संश्लिष्टता का समवेत् सामंजस्य मिलता है, इसीलिए इनके भीतर से एक प्रकार की स्वाभाविक जटिलता, कशमकश रूप धारण कर प्रत्यक्ष होती है।

प्रस्तुत पुस्तक में अज्ञेय के उपन्यासों के जाटिल्य-बोध और उसकी दुर्बोधता को अधिकाधिक ग्राह्य बनाने के लिए मुख्यतया विश्लेषणात्मक प्रणाली का प्रयोग किया गया है। इस सन्दर्भ में उनके उपन्यासों पर आवृत्त चिन्तन, वैचारिक प्रत्ययों की परतों एवं संश्लिष्ट संवेदनाओं को अनावृत कर रस-पेशिल बनाने का प्रयास किया गया है, ताकि आलोचना अधिकाधिक तात्त्विक और ग्राह्य बन सके।

अज्ञेय मूल रूप से मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। इनके उपन्यासों में घटनाओं का विस्तार न होकर मानव के अवचेतन-अचेतन मन की आन्तरिक गुत्थियों तथा सूक्ष्म संवेदनाओं के पर्य्यांकन और विश्लेषण का

आधिक्य मिलता है। साथ ही उनके उपन्यासों में 'वस्तु' और 'शिल्प' की नव्यता का प्रामुख्य है। अतः ये उपन्यास सर्वथा 'प्रयोगशील' और सही माने में आधुनिक हैं। अज्ञेय के उपन्यासों में निहित आधुनिकता की प्रक्रिया का यहाँ व्यापक फलक पर दिग्विस्तार किया गया है।

यह लेखन-यात्रा सह-बन्धु प्रो० मोतीलाल जोतवाणी के प्रस्ताव, प्रोत्साहन और उनकी स्नेहिल सद्प्रेरणाओं के बिना शायद ही पूरी हो पाती। दरअसल, उनकी मेधा का आदमी होना बड़ा कठिन है। उनके प्रति अन्तः की मूक कृतज्ञता ज्ञापित न करूँ, तो सृजन का मूल उत्स कहाँ पा सकूंगा ?

पत्नी के अमित सहयोग तथा आत्मजा अंजु की जिज्ञासा व तकाजा के कारण पुस्तक का प्रकाशन शीघ्रता से हो सका। अतः दोनों के प्रति संचित स्नेह आर्द्र होकर उमड़ पड़ता है।

उन समस्त लेखकों—विचारकों का लेखक आभारी है, जिनकी सामग्री के उपयोग के बिना इस योजना का अनुष्ठान हो पाना मुश्किल था।

हिन्दी-विभाग,
देशबन्धु कॉलेज (सान्ध्य)
[दिल्ली विश्वविद्यालय]
कालकाजी, नई दिल्ली।

—नन्दकुमार राय

अनुक्रम

1. आधुनिक हिन्दी-उपन्यास : यात्रा-सन्दर्भ और अज्ञेय 9-35

उपन्यास और आधुनिक उपन्यास—अज्ञेय-पूर्व (प्रेमचन्द-युगीन) हिन्दी-उपन्यासों की स्थिति—प्रेमचन्द तथा उनके उत्तरवर्ती उपन्यासों का मूल अन्तर—मनोविज्ञान-प्रधान उपन्यासों की शुरूआत—जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी आदि के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अध्ययन।

2. अज्ञेय के उपन्यास : वस्तु-विश्लेषण 36-72

आधुनिक अथवा नये उपन्यासों के सम्बन्ध में अज्ञेय की दृष्टि और कसौटी—निष्कर्ष—उनके उपन्यासों 'शेखर : एक जीवनी,' 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' के कथ्य का क्रमिक विश्लेषण और विवेचन।

3. अज्ञेय के उपन्यास : मनोवैज्ञानिक संचेतना 73-94

मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों के परिप्रेक्ष्य में अज्ञेय के तीनों ही उपन्यासों का क्रमिक अध्ययन—'शेखर : एक जीवनी' में निहित बाल-मनोविज्ञान—सर्वात्मवादी चिन्तन—अहं, भय और सेक्स—स्मृति, कल्पना, स्वप्न, दिवा-स्वप्न—रात्रि के स्वप्न—विभ्रम आदि का विश्लेषण—'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' की मनोवैज्ञानिकता पर विचार।

4. अज्ञेय के उपन्यास : शिल्प-संधान 95-132

शिल्प-विवेचन के सन्दर्भ में अज्ञेय के उपन्यासों—'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' तथा 'अपने-अपने अजनबी' का विश्लेषणात्मक अध्ययन—कथानक—चारित्रिक विधान, कथोपकथन, देशकाल तथा वातावरण, सोद्देश्यता—भाषा शैली—शैल्पिक नव्यता।

5. प्रयोग-प्रक्रिया, प्रत्यय और प्रभाव 133-136

अज्ञेय की औपन्यासिक प्रयोगशीलता और उनमें अन्तर्निहित प्रक्रिया का विश्लेषण—प्रत्यय से तात्पर्य चिन्तन-दर्शन से उनके उपन्यासों में प्रयुक्त बौद्ध-दर्शन तथा अस्तित्ववाद।

6. परिशिष्ट 1—अज्ञेय-व्यक्ति

7. परिशिष्ट 2—सहायक ग्रंथ-सूची

1

आधुनिक हिन्दी-उपन्यास

यात्रा-संदर्भ और अज्ञेय

उपन्यास पर जब हम 'आधुनिक' अथवा 'आधुनिकता' का 'लेबल' लगाते हैं तो निश्चित रूप से हमारा दृष्टिकोण उसकी सद्य:स्थिति पर ही स्थित होता है। आधुनिकता समसामयिक बोध से सम्बद्ध हुआ करती है। इसका सीधा सम्बन्ध युग-चेतना यानी साम्प्रतिक संवेदनाओं और अर्थ-व्यंजनाओं से है। आधुनिकता परम्परा—जड़ीभूत परम्परा—को बेरहमी के साथ काटकर नयी चेतना को आलोकित करने का प्रयत्न करती है। परम्परा अतीत-संवर्द्धित होती है। इसका गठबन्धन 'रोमांटिसिज्म' के साथ होता है। आधुनिकता चूंकि वर्तमान के वातायन से भविष्य के नये क्षितिज की ओर झाँकने की आदी और प्रवृत्त होती है, इसलिए अतीत से आबद्ध रोमांटिसिज्म से वह परहेज किया करती है। बौद्धिकता के छानना-पत्र से तथ्यों को छानकर ग्रहण करना इसका सबसे बड़ा लक्षण है। यही कारण है कि आधुनिक साहित्यकार तरल अनुभूति की जगह ठोस अथवा बौद्धिक अनुभूति (Intellectualised feeling) की सजग अभिव्यक्ति पर अधिक से अधिक बल देता है। किसी भी कृति के आधुनिक होने या कहलाने के लिए यह जरूरी है कि आधुनिकता की प्रक्रिया को वह रचनात्मक स्तर पर स्वीकार और ग्रहण कर सके तथा जीवन की अनुभूति के नये 'विज़न' को उजागर कर सके। कहने का आशय यह है कि आधुनिक साहित्य युग की तीव्रतम संवेदनाओं और सृजनप्रक्रिया को सही तौर पर अपने-आपमें सहेज-सँवारकर, फिर उसका प्रस्तुतीकरण करता है।

अज्ञेय की चर्चा आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में सही माने में तब जायज़ हो सकती है, जब इन्हें इनके पूर्ववर्त्ती उपन्यासकारों से अलग करके देखा जा सके। यह अलगाव दो दृष्टि-बिन्दुओं से संभव हो सकता है, एक, काल को आधार मानकर और दो, युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों, संवेदनाओं एवं संचेतनाओं की संश्लिष्टता की दृष्टि से। किन्तु साहित्य अथवा कृति के मूल्यांकन का सही पैमाना काल नहीं, बल्कि वाहन और सघन दृष्टिकोण ही हो सकता है। यह जरूरी नहीं है कि एक ही युग के समस्त लेखक अपने वर्तमान के प्रति यथावत्

रूप से संवेदनशील हों और समान रूप से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें। कभी-कभार तो ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही लेखक अपनी सम्पूर्ण लेखन-यात्रा में आधुनिकता की प्रक्रिया का निर्वाह सही और समान तौर पर नहीं कर पाता। होता यह है कि उसके संस्कार की शिखा तो परम्परित विचारों की धरती में गड़ी हुई होती है लेकिन कालांतर में वैचारिक परिवर्तन के प्रवाह के साथ वह अग्रसर होने की ओर प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप उसके विचार और चिन्तन में आधुनिक संवेदनाओं की सुगबुगाहट स्वयमेव होने लगती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण और उदाहरण प्रेमचन्द का उपन्यास और कथा-साहित्य माना जा सकता है। काल (इतिहास) की दृष्टि से प्रेमचन्द सर्वथा आधुनिक लेखक हैं, किन्तु संवेदना और अनुभूति के सातत्य की दृष्टि से 'गोदान' (1936) के पूर्व के प्रेमचन्द और गोदान व उसके बाद के प्रेमचन्द में निश्चित रूप से एक प्रकार के अलगाव का बोध होता है। 'गोदान' के पूर्व के प्रेमचन्द-साहित्य में सर्जन की वही प्रक्रिया नहीं मिलती, जो 'गोदान' अथवा उनकी कहानी 'कफ़न' या बाद की रचनाओं में उपलब्ध होती है। इस सन्दर्भ में डॉ० इन्द्रनाथ मदान का यह अभिमत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि "1934-36 के आस-पास कथाकारों की संवेदना में मौलिक अन्तर आ चुका था और प्रेमचन्द ने ही अपनी संवेदना का खण्डन करना शुरू कर दिया था। 'पूस की रात', 'कफ़न' तथा 'गोदान' तक आते-आते इनकी संवेदना बदल चुकी थी, इनकी रचना-प्रक्रिया में भारी अन्तर आ गया था, आधुनिकता की प्रक्रिया सृजन में अधिक बल पकड़ रही थी। इन कृतियों के अन्त में विराम-चिह्न की जगह प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है, इनमें समाधान का संतोष न होकर समस्या का असन्तोष है, आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार है।"[1] इस दृष्टि से मदान का यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि 'हिन्दी उपन्यास में पहला मोड़ **गोदान** ने लिया है और प्रेमचन्द ने स्वयं बन्द अनुभूति की परम्परा को तोड़ा है, अपनी परम्परा को तोड़ा है।'[2]

किसी भी सर्जनात्मक कृति के मूल्यांकन के लिए यह विचार करना सबसे पहले आवश्यक है कि जिस विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को रचनाकार झेल और भोग रहा है, उसे किस हद तक---कितनी ईमानदारी के साथ व्यक्त करने में वह सक्षम हो रहा है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहें कि जो रचनाकार रचनात्मक स्तर पर आधुनिकता की चुनौती को जिस हद तक सही-सही रूप में स्वीकार कर, अपनी लेखन-यात्रा तय करता है, उसी मात्रा में वह सफल भी माना जा

1. आज का हिन्दी-उपन्यास, पृ० 9
2. आधुनिकता और हिन्दी-साहित्य, पृ० 21

सकता है। किन्तु एक बात यहाँ ध्यातव्य यह है कि किसी भी [रचनात्मक] कृति को जब हम आधुनिकवाद अथवा किसी सिद्धान्त-विशेष की कसौटी पर परखते हैं तो इसका अर्थ यह है कि आरोपित मूल्यों का संधान हमारा लक्ष्य बन जाता है, जो न तो अपने-आपमें सही मूल्यांकन है, न वास्तविक आलोचना ! सर्जनात्मक साहित्य में वास्तविकता का सृजन होता है, जबकि आलोचक अपनी आलोचनात्मक कृति में रचनात्मक स्तर पर उसी वास्तविकता का—उसी विशिष्ट संवेदना का पुनर्सर्जन कर उसका ग्रहण व प्रस्तुतीकरण करता है। यही कारण है कि जो उपक्रम सृजन के धरातल पर एक रचनाकार करता है, प्राय: उसी उपक्रम को आलोचक भी अपनी कृतियों में दुहराता तथा अपनी आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाने की चेष्टा करता है। इसी वजह से आज की आलोचना—नयी आलोचना को लगभग वही महत्ता प्राप्त है, जो किसी (मौलिक) रचना को। सम्प्रति, यह मौलिकता इसके लिए भी उपवाच्य बन गई है।

आज की ताज़ा रचनाओं में रचनाकार आधुनिकता की चुनौती को विभिन्न स्तरों पर स्वीकार और ग्रहण करता है। अब पुरानी मान्यताओं एवं जीवन-दृष्टियों पर प्रश्न-चिह्न लग चुका है। यह प्रश्न-चिह्न हर उपन्यास में अलग-अलग ढंग से लगा हुआ है। इसलिए इनका पर्य्यवेक्षण भी अलग-अलग धरातल पर, अलग-अलग ढंग से करना होगा। आधुनिक हिन्दी उपन्यास 'वस्तु' और शिल्प—दोनों ही दृष्टियों से पुराने उपन्यास से अलग हो चुका है। इस संदर्भ में स्कॉट जेम्स का यह कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि मनोयोगपूर्वक लिखा गया हर उपन्यास विधि और शिल्प में अपनी पृथक् समस्या को उपस्थापित करता है।[1] इसी प्रकार डॉ० एच० वी० रूथ (Dr. H. V. Routh) ने अपना अभिमत यों व्यक्त किया है : "Art must always be renewed. Its creative influence depends on surprise. When once the freshness of the presentment has faded, the reader relapses into his daily habits."[2]

स्पष्ट है कि 'नवीनता' के प्रति आग्रह समस्त लेखकों का अभीष्ट है। आधुनिक कथाकार जैनेन्द्र कुमार कहते हैं : "मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा

1. "Every carefully written novel presents its own separate problem in method and technique."
—The Making of Literature. Page 37.
2. Dr. H.V. Routh, "English Literature and Ideas in the Twentieth Century", Page 2.

तो नहीं कि कहानी कला या शिल्प हो ही नहीं, बल्कि सृष्टि हो। हर शिशु अपना बनाव और अपना स्वभाव लेकर जनमता है। दो प्राणी कभी एक-से हो ही नहीं सकते। कारण, वे सृष्ट होते हैं, बनते नहीं हैं। एक माता-पिता की सन्तति समान नहीं हो पाती। क्योंकि प्रत्येक सृष्टि पृथक् गर्भ का फल है। यानी अपना पृथक् आनन्द, पृथक् वेदना।"[1] प्रसिद्ध आलोचक पर्सी लुब्बक उपन्यास के शिल्प को गौण, कथ्य अथवा दृष्टिकोण को मुख्य मानते हैं। उनके विचार से—"उपन्यास-कला की शिल्प-विधि अथवा कारीगरी की जटिलता का निर्धारण मूलत: **कथाकार के दृष्टिकोण** पर निर्भर है। कथाकार का कथा के साथ जो दृष्टिवाचक सम्बन्ध होता है, वही उपन्यास का शिल्प निर्धारित करता है।"[2] यहाँ 'दृष्टिकोण' पर ही समग्र रूप से जोर दिया गया है।

ऊपर के समस्त उद्धरणों मे मूल रूप में **दृष्टिकोण**, तथ्य अथवा कथ्य[3] पर ही अवधान दिया गया है।

हर लेखक का अपना-अपना निजी दृष्टिकोण, प्रत्यय और दर्शन होता है, जिसका आलेखन वह अपनी कृतियों में अपने ढंग से करता है। इसलिए बजाय इसके कि कृतियों का मूल्यांकन किसी 'वाद' अथवा सिद्धांत विशेष के आलोक में किया जाये, यह अधिक उचित है कि रचनाकार की परख, रचनाकार की स्वानुभूति व चिन्तन-विधि के परिप्रेक्ष्य में की जाए। अपनी बात को साफ शब्दों में यों कहें कि सही माने में हर आधुनिक उपन्यास का विवेचन उसके अपने धरातल पर ही करना अधिक संगत होगा। इसका एकमात्र कारण यह है कि उपन्यास को परखने की कसौटी अब बदल चुकी है, पुराने और परम्परित प्रतिमान 'घिस' चुके हैं तथा मूलभूत संवेदना में अलगाव का बोध होने लगा है।

जीवन की जटिलता, संकुलता एवं समग्रात्मक संवेदना की दृष्टि से

1. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० 354-55
2. "The whole intricate question of method in the craft of fiction, I take to be governed by the question of point of view, the question of the relation in which the narrator stands to story."

—'The Craft of Fiction', p. 251.

3. प्रो० जगदीश पाण्डेय ने 'तथ्य' और 'कथ्य' की आन्तरिक सूक्ष्मता तथा उसके अन्तराल का विश्लेषण करते हुए लिखा है : "तथ्य अनुभूत पदार्थ होता है, कथ्य अन्वेषित। कथ्य में जिज्ञासा की पैठ और तर्कपरक व्यंग्य की पैनी धार की तेजी रहती है।"

—'कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि', पृ० 3.

आधुनिक हिन्दी-उपन्यास का परम्परित व प्राचीन उपन्यास से अलगाव प्रेमचन्द के 'गोदान' से मानना चाहिए क्योंकि 'गोदान' के पूर्व प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों को प्राय: उसी पुरानी पूंजी से सँवारा है, जो उन्हें विरासत के रूप में परम्परा से प्राप्त थी। 'गोदान' तक आते-आते इनमें प्रगतिशील चेतना सक्रिय होने लगी। फलस्वरूप, यथार्थ के प्रति रुझान और आग्रह इनकी रचनाओं में अधिकाधिक मात्रा में परिलक्षित होने लगा। इस दृष्टि से, नलिनविलोचन शर्मा का यह परिकथन द्रष्टव्य है कि—"गोदान के पहले तक के प्रेमचन्द हिन्दी उपन्यास के अतीत की चरम परिणति के पथचिह्न हैं। 'गोदान' के रचयिता प्रेमचन्द ही हिन्दी के वर्तमान और भविष्य के निर्देशक हैं। प्रेमचन्द उस शिखर के समान हैं, जिसके दोनों ओर पर्वत के दो भागों के उतार-चढ़ाव हैं।"[1]

प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों का मूल उद्देश्य था—मनोरंजन। इसके लिए वे कल्पना की कलात्मकता का प्रदर्शन किया करते थे। निस्सन्देह कुछेक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में सामाजिक चेतना को भी रेखांकित करने का प्रयास किया था। यही **'सामाजिक चेतना'** और **'आदर्शमूलक दृष्टि'** प्रेमचन्द को विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी, जिसका उपयोग उन्होंने अपने आरम्भिक और बाद के कुछ उपन्यासों में किया है। श्रद्धाराम, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्रीनिवास दास आदि की औपन्यासिक परम्परा को ही प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' तथा 'निर्मला' आदि अपनी रचनाओं में विकसित और परिपुष्ट किया है। किन्तु प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि रोमांस, सस्ते मनोरंजन और वायवी कल्पना से अलग हटकर उन्होंने अपने उपन्यासों को एक नयी ज़मीन और मोड़ दी है। वह ज़मीन और मोड़ है—सामाजिक यथार्थवाद की। यही कारण है कि उनके प्राय: समस्त उपन्यासों का मूल स्वर भी सामाजिक यथार्थवाद ही ठहरता है। किन्तु उनका यथार्थवाद कोरे आदर्श से कोई परहेज़ नहीं रखता। दरअसल, प्रेमचन्द का यथार्थवाद आदर्श की बैसाखी के बिना चल ही नहीं पाता। इसलिए उन्होंने अपने औपन्यासिक और साहित्यिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कहकर प्रस्तुत किया है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समसामयिक युग-जीवन की समस्याओं और संवेदनाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में परखने की चेष्टा की है। यहाँ तक कि व्यक्ति को भी वे समाज के कटघरे में ही खड़ा करके देखना चाहते हैं। वस्तुत: 'प्रेमचन्द अपने साहित्य द्वारा वर्ग-वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता, पूंजीवादी संस्कृति एवं बुर्जुवा मनोवृत्ति के विरुद्ध जनमत तैयार करना चाहते थे

1. 'हिन्दी-उपन्यास' शीर्षक निबन्ध, 'आलोचना, इतिहास विशेषांक,' पृ० 112

और उसे एक ऐसी व्यापक क्रान्ति (ख़ूनी नहीं) के लिए तैयार करना चाहते थे, जिससे प्रगतिशील समाज की स्थापना हो सके और उन्नति करने का सबको समान अवसर प्राप्त हो सके।'[1]

यहाँ इतनी बात साफ़ हो जाती है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों का धरातल स्पष्ट व मूल रूप से सामाजिक है। प्रकारान्तर से यों कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को सर्वथा सामाजिक स्तर पर ही स्वीकार किया है। यह स्वीकृति अपेक्षाकृत उनके विशिष्ट उपन्यास 'गोदान' में अधिक संश्लिष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। वास्तव में हिन्दी उपन्यास का आधुनिक तथा नया मोड़ 'गोदान' (1934-36 ई०) से ही शुरू होता है; क्योंकि इसमें आस्था की जगह अनास्था तथा प्राचीन व परम्परित रूढ़ात्मक सत्यों, समाधानों एवं समझौतावादी दृष्टियों पर प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। 'गोदान' न केवल 'होरी' का गोदान है, बल्कि वह सम्पूर्ण कृषक वर्ग का गोदान बन गया है। इसीलिए ऐसा कहा जाता है कि 'गोदान' कृषक जीवन का महाकाव्य है। वास्तविकता यह है कि 'होरी' व्यक्ति के रूप में एक समुदाय है, जिसमें एक ओर अपने वर्तमान के प्रति असन्तोष का भाव दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर, क्रान्ति की चेतना की कुलबुलाहट। फिर भी वह समझौते के रास्ते से गुजरता, अपने को दो छोरों से बचाता और अपनी समस्याओं का समाधान करता है। यह समाधान तो ठीक वैसा ही है, जैसे धू-धूआती आग के ऊपर ईंधन की परत रख दी जाए और कुछ समय के लिए उसकी लपट तथा धुँआ दबकर अदृश्यमान हो जाए। होरी की समझौतावादी जीवन-दृष्टि पर 'गोबर' प्रश्न-चिह्न लगाता है, जो नयी पीढ़ी की संवेदनाओं को झेल और भोग रहा है। 'गोबर' जहां गाँव के घुटन से ऊबकर शहर की ओर प्रयाण करता है, वहां निश्चित रूप से आधुनिकता की कशमकश का बोध होता है।

प्रेमचन्द ने जिस सशक्त परम्परा का सूत्रपात अपने उपन्यासों के माध्यम से किया, उसे ही परवर्ती उपन्यासकारों ने आधुनिक भाव-बोध के परिप्रेक्ष्य में विकसित करने का प्रयास किया। फिर भी अन्तर यह है कि प्रेमचन्द में जहाँ सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिकाधिक आग्रह दिखाई पड़ता है, वहाँ परवर्त्ती उपन्यासकारों में वैयक्तिक रुझान। प्रेमचन्द ने आधुनिकता की चुनौती को जहाँ सामाजिक धरातल पर स्वीकार किया है, वहाँ बाद के उपन्यासकारों, जैसे, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय तथा डा० देवराज आदि ने वैयक्तिक अनुभूति व संवेदना के रूप में उसका साक्षात्कार किया है। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में जहाँ समष्टि-सत्य की बुनावट है, वहाँ परवर्ती उपन्यासकारों की

1. श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ, पृ० 18

रचनाओं में व्यक्ति के अन्तर्मन की सूक्ष्म रेखाओं का पर्य्यवेक्षण, विश्लेषण और आकलन। स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास समष्टि-स्थूलता से अलग हटकर व्यष्टि-सूक्ष्मता की दिशा में गतिमान है।

प्रेमचन्द के 'गोदान' (सन् 1934-36 ई०) तथा जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास 'सुनीता' (सन् 1934 ई०) का रचना-काल (1934 ई०) बिल्कुल एक होते हुए भी दोनों में एक व्यापक और मौलिक अन्तर यह है कि एक (प्रेमचन्द) का उपजीव्य सामाजिक चेतना और यथार्थ भाव-बोध है तो दूसरे (जैनेन्द्र) का उद्देश्य है—व्यक्तिमन के आन्तरिक खुरदुरेपन का विश्लेषण और चित्रण प्रस्तुत करना। "प्रेमचन्द के परवर्ती युग की समस्याएँ थीं, पाप-पुण्य की समस्या, प्रेम-विवाह की समस्या, शरीर-शुद्धि और आत्म-शुद्धि की समस्या। ये समस्याएँ अपेक्षाकृत सूक्ष्म और व्यक्ति-विशेष की समस्याएँ थीं। इन समस्याओं के विश्लेषण और समाधान के लिए प्रेमचन्द के परवर्त्ती उपन्यासकारों ने अधिक-से-अधिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की सहायता ली। यथार्थवाद की दिशा में यह दूसरा चरण था।"[1] इस दूसरे चरण की शुरूआत होती है जैनेन्द्र के कथा-साहित्य से। जैसाकि कहा गया, इसमें व्यक्ति (पात्र) प्रधान हैं, वस्तु नहीं। इसलिए 'वस्तु' का मूल्यांकन इनमें नहीं होता; होता है व्यक्ति के उपचेतन और अचेतन मन (Sub-conscious & Unconscious mind) का विश्लेषण और अध्ययन, जो मनोविज्ञान का प्रमुख विषय है। चूंकि व्यक्ति प्रमुख है, इसलिए पात्रों की भीड़ ऐसे (मनोविश्लेषणात्मक) उपन्यासों में नहीं होती। जैनेन्द्र ने 'सुनीता' की प्रस्तावना में अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में व्यक्त किया है: "···पुस्तक में मैंने कहानी कोई लम्बी-चौड़ी नहीं कही है। **कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं।** अतः तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। **इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर ही हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के वर्णन पा सकते हैं और उसके द्वारा इस सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्मांड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में समग्रता क्यों नहीं दिखलाई जा सके?**"

उपर्युक्त उद्धरण से तीन बातें हाथ लगती हैं:

1. कहानी कहना या सुनाना जैनेन्द्र का अभीष्ट नहीं है। यानी कथावस्तु की स्थूलता और व्यापकता को वे बिल्कुल आवश्यक नहीं मानते।
2. कथा में 'सत्य' का वर्णन और उसका सम्प्रेषण ही जैनेन्द्र के लिए

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : भूमिका, डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० 6

महत्त्वपूर्ण है। 'सत्य' केवल 'यथार्थ' नहीं है, बल्कि उससे भी श्रेष्ठ तत्त्व है। यथार्थ का स्वभाव बाहरी और क्षेत्र व्यापक होता है, जबकि 'सत्य' आभ्यन्तर और गहरा अर्थात् मानसी होता है। इसलिए उसका वर्णन और विश्लेषण यथार्थ की अपेक्षा अधिक दुरूह होता है।

3. जैनेन्द्र वस्तुतः थोड़े में समग्रता का दर्शन कराना चाहते हैं। सामान्य मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि जैसी उत्तेजना व्यक्ति के सामने होती है, उसके मन में वैसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। इसे 'उत्तेजनाप्रतिक्रिया' (Stimulous Response) का सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त जैसे एक व्यक्ति पर घटित होता है, वैसे अनेक मनुष्यों पर भी लागू होता है। इसलिए एक व्यक्ति (पात्र) के अनुभूतिगत माध्यम से वे समग्रता तक पहुँचते और पहुँचना चाहते हैं।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यास ('जयवर्द्धन' को छोड़कर) मनोविश्लेषणात्मक और व्यक्ति-प्रधान हैं। मानव-मन (चरित्रों) के अन्तर्जगत् का विश्लेषण, उद्घाटन और उसका स्पष्टीकरण ही जैनेन्द्र के उपन्यासों का वैशिष्ट्य और लक्ष्य है। "उन्होंने व्यक्तित्व को मूलतः व्यक्ति मानकर उसकी मान्यताओं को वाणी देने का प्रयास किया है। वे व्यक्तिगत जीवन का चित्रण करते हुए बाहर से भीतर की ओर आए हैं, सामाजिक समस्याओं के स्थान पर व्यक्तिगत उलझनों का विश्लेषण करने लगे हैं। इसलिए उनके उपन्यासों को व्यक्तिवादी उपन्यासों की भी संज्ञा दी जाती है।"[1]

जैनेन्द्र सबसे पहले उपन्यासकार हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द की पुरातन परम्परा पर प्रश्न-चिह्न लगाया है। प्रेमचन्द तक आती हुई सामाजिक चेतना और आदर्शमूलक प्रवृत्तियों को नज़रअन्दाज़ कर, उन्होंने व्यक्ति-चेतना की शक्ति और सत्ता को स्वीकार कर, उसकी कुण्ठाओं तथा जटिलताओं को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इसलिए उनके पात्र अपने ही अन्तर्लोक में डूबते-उतराते दीख पड़ते हैं। जैनेन्द्र के लिए 'दृष्टिकोण' ही प्रधान और मान्य है। शिल्प को वे बहुत महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उनकी धारणा यह है कि शिल्प से किनारे बनते हैं, नदी का पानी नहीं बनता। कहानी का क्षेत्र वस्तु से अधिक व्यक्ति का है, स्थिति से अधिक गति का है।[2] कहने का अभिप्राय यह है कि उनके अनुसार कला (शिल्प) कथा को 'देह' तो प्रदान कर सकती है, किन्तु 'जान' नहीं डाल

1. (क) डा० सुषमा धवन : हिन्दी-उपन्यास : पृ० 169-70
   (ख) नंददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० 184
2. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० 355

सकती, जिससे उसमें 'धड़कन' आती है।[1] इस 'धड़कन' के लिए 'कथानक' का व्यापक आधार-फलक ('कैनवास') नहीं, पात्रों की अन्तश्चेतना आवश्यक है, जिसका निर्वाह उन्होंने अपने उपन्यासों में भरपूर तौर पर किया है।

पात्रों के अवचेतन अथवा अचेतन मन-प्रान्त के उद्घाटन और निरूपण के लिए मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार कई प्रकार के साधनों और विधियों का सहारा लेता है। अचेतन को उसके अचेतन रूप में ही अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि स्पष्टत: वह अज्ञात या अचेतन है। मात्र व्यक्ति की चेतन अभिव्यक्ति में उभरने वाले प्रतीकों जैसे, संस्मृत स्वप्नों, कल्पना अथवा वाणी या लेखन-स्खलन (Slips of the tongue or of the pen) आदि के द्वारा ही हम उसका अनुमान लगा सकते हैं।[2] आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में इसका प्रयोग अब पुरज़ोर तौर पर होने लगा है। सबसे पहले इसका प्रवर्त्तन जैनेन्द्र ने अपने प्रथम उपन्यास 'परख' (सन् 1929 ई०) में किया।

जैनेन्द्र के उपन्यास हैं: 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्द्धन' तथा 'मुक्तिबोध'। इनमें 'जयवर्द्धन' को छोड़कर बाकी शेष सभी उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों की छाप तथा मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति का निसर्गत: दर्शन और बोध होता है। 'परख' (सन् 1929) में उपन्यासकार जैनेन्द्र ने उपन्यास के प्रमुख पात्र 'कट्टो' और 'सत्यधन' के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को विश्लेषित करने का उपक्रम किया है। उपन्यास का केन्द्रीय विषय है — 'कट्टो' और 'सत्यधन' का पारस्परिक प्रणय-व्यापार। उसके माध्यम से लेखक ने 'हृदय' और 'बुद्धि' अथवा 'व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना' तथा सामाजिक रूढ़ियों और परम्परित—जड़ीभूत मान्यताओं से उद्भूत क्रिया-प्रतिक्रियाओं का विवेचन-विश्लेषण किया है। 'कट्टो' 'हृदय' का प्रतीक है और 'सत्यधन' 'बुद्धि' का। 'हृदय' व्यक्ति की स्वातंत्र्य-चेतना की ओर प्रवृत्त होता है और 'बुद्धि' सामाजिक मूल्यों व बन्धनों के द्वारा उसे संयत करना चाहती है।

1. वही, पृ० 355
2. "...The unconscious cannot be expressed in its own unconscious form, since obviously this is unconscious. We can only infer it from symbols emerging in the conscious expression of the person, such as remembered dreams, fantasies, or slips of the tongue or of the pen."
Leon Edel : 'The Psychological Novel', Page 55.

सत्यधन वकालत पास एक आदर्शवादी नवयुवक है। कट्टो उसके गाँव की बाल-विधवा है, जो सत्यधन के पास पढ़ने के लिए आया करती है। इसी बीच सत्यधन के मन में कट्टो के प्रति एक सहज आकर्षण का भाव उत्पन्न हो जाता है। सत्यधन का एक अनन्य मित्र है—बिहारी। बिहारी की एक बहन है—गरिमा। बिहारी के पिता अपनी आत्मजा—गरिमा की शादी सत्यधन के साथ करना चाहते हैं। कट्टो और गरिमा को लेकर सत्यधन दुविधा और असमंजस में पड़ जाता है। फिर भी भावात्मक रूप से कट्टो के प्रति ही उसके प्रेम का पलड़ा भारी है। कट्टो भी समग्र भावात्मक रूप से अपने अन्तः के संचित समस्त स्नेह और प्रेम को सत्यधन के प्रति समर्पित कर देती है। सत्यधन कट्टो के समक्ष बिहारी के साथ विवाह का प्रस्ताव रखता है और फिर बाद में उसकी सूनी माँग में बिहारी सिन्दूर की सुहाग-रेखा खींचकर अपनी पत्नी (सधवा) बना लेता है। उसके बाद सत्यधन भी बुद्धि से निर्देशित होकर गरिमा के साथ शादी करने को बाध्य हो जाता है। एक दिन ऐसा आता है, जब बिहारी के पिता अपनी सारी सम्पत्ति बिहारी के नाम छोड़कर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। सत्यधन अपने स्वाभिमान के आहत होने के कारण किराये के एक मकान में रहने लगता है। कट्टो को इससे दुःख होता है। अतः वह उससे घर वापस चलने का आग्रह करती है, किन्तु सत्यधन इससे सहमत नहीं होता। अन्त में, कट्टो उसके हाथ में चालीस हजार रुपये की राशि देकर लौट आती है। सत्यधन के मन में उसके त्याग के प्रति एक असीम स्नेह और श्रद्धा का भाव उमड़ आता है और स्वयं अपने कर्मों के प्रति पश्चात्ताप, क्योंकि स्वयं उसने ही तो कट्टो को अपने-आपसे काटकर अलग कहीं जोड़ रक्खा था। अन्त में, बिहारी और कट्टो एक-दूसरे से अलग हट जाते हैं।

'परख' के प्रोक्त कथा-तत्त्व में किसी प्रकार की अनावश्यक विस्तार-योजना नहीं दिखाई पड़ती। इसमें प्रमुखता कथावस्तु अथवा घटनाओं की न होकर पात्रों के मनोविश्लेषणात्मक चित्रण की है। इसके लिए लेखक को पात्रों (व्यक्ति) के अन्तर्मन की गहराई में बैठने की जरूरत होती है। इस दायित्व का निर्वाह सबसे पहले जैनेन्द्र ने अपने इस उपन्यास में किया है, जो प्रेमचन्द-परम्परा से अलग की वस्तु है। इस पार्थक्य को, ओमप्रभाकर के इन शब्दों में प्रस्तुत कर सकते हैं: "भारतेन्दु युग से लेकर प्रेमचन्द एवं उनके अनुवर्ती उपन्यासकारों की रचनाओं तक में केवल दो आयाम—चौड़ाई (कथानक के परिवेश एवं परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में) तथा लम्बाई (कथानक एवं घटनाओं के समायोजन की कल्पनाशीलता के सन्दर्भ में) ही प्रयुक्त होते थे, जबकि जैनेन्द्र की रचनाओं के साथ ही तीसरा आयाम गहराई (चरित्रांकन के संदर्भ में) भी हिन्दी-उपन्यास में चित्रित होने

लगा।"[1] कहने का अभिप्राय यह है कि जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में जो गहराई और बारीकी (सूक्ष्मता) है, वह प्रेमचन्द-परम्परा से सर्वथा इसे अलग और विशिष्ट धरातल प्रदान करती है। प्रेमचन्द के पात्र सामाजिक चेतना-प्रवाह में प्रवाहित होते हैं, जबकि जैनेन्द्र के पात्र सामाजिकता के नक़ाब को हटा और नकार कर अपने ही अन्तर्प्रदेश में विचरण करते हैं। इसलिए प्रेमचन्द अपने पात्रों का मूल्यांकन पूर्व-निर्धारित सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में किया करते हैं, जबकि जैनेन्द्र व्यक्ति-मन की अतल गहराई में उतरकर उसका निरीक्षण अन्तर्वीक्षण यंत्र (Microscope) से करते हैं।

प्रेमचन्द समाज-अध्ययन अथवा समाज-दर्शन से अलग होकर नहीं सोचते, जबकि जैनेन्द्र सदा इससे कटकर व्यक्ति के मनोविज्ञान की गहराइयों में अपनी राह का अन्वेषण करते हैं। दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि एक (प्रेमचन्द) की दृष्टि में समाज के कारण, समाज के लिए व्यक्ति है, जबकि दूसरे (जैनेन्द्र) की मान्यता यह है कि व्यक्ति ही प्रधान है। व्यक्ति के उत्थान-पतन पर ही समाज का उत्थान-पतन निर्भर करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रेमचन्द का चिन्तन-दर्शन समाज की बैसाखी के बिना पंगु है, जबकि जैनेन्द्र व्यक्ति के अन्तर्लोक का भ्रमण अपने आप करते हैं। हाँ, यह बात दूसरी है कि अपनी इस यात्रा में उन्हें मनोविज्ञान और दर्शन की चिन्तन-पुष्टि का सहारा लेना पड़ता है। **निष्कर्ष यह है कि प्रेमचन्द समाज के मुडेरे से व्यक्ति के धरातल तक आते हैं और जैनेन्द्र व्यक्ति की सीढ़ी से होकर समाज की छत पर चढ़ते हैं।**

'परख' में उपन्यासकार जैनेन्द्र ने समाज-विधान-द्वारा विस्थापित कट्टो का वैधव्य सिन्दूरी-रेखा से मण्डित करके देखा-दिखाया है। निश्चित रूप से यहाँ लेखक ने समाज की पुरानी और खोखली मान्यता को झटका देकर आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा है। प्रेमचन्द में इस साहस का सर्वथा अभाव है। एक बात और ! प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्रेम की समस्या और संवेदना का निरूपण विवाह के पूर्व ही सीमित है, जबकि जैनेन्द्र की रचनाओं में यह समस्या विवाह के पश्चात् तीव्रता से उठती है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के इस मंतव्य के साथ सहमत होना बिल्कुल सहज है कि जैनेन्द्र के 'लगभग सभी उपन्यासों में पति-पत्नी-प्रेमी का योजनाबद्ध तिकोन इनकी रचना-प्रक्रिया की यांत्रिकता को सूचित करता है। × × × प्रेमचन्द प्रेम की परिणति को विवाह में देखना चाहते हैं, नारी की नियति को पत्नी या माँ के रूप में आँकते हैं, जबकि जैनेन्द्र की आस्था विवाह में न होकर प्रेम में है। प्रेम एक वैयक्तिक मान्यता है और

1. अज्ञेय का कथा-साहित्य, पृ० 15

विवाह एक सामाजिक धारणा। **प्रेम बाहर का प्रतीक है और विवाह घर का। जैनेन्द्र नारी को मात्र नारी समझते हैं, उसका पत्नी होना इतना महत्त्व नहीं रखता, जितना उसका प्रेयसी होना।**'[1]

'सुनीता' (सन् 1934) जैनेन्द्र का नायिका-प्रधान व्यक्तिवादी उपन्यास है। इसके सीमित 'कैनवास' पर कुल पाँच पात्र हैं, जिनमें तीन ही प्रमुख हैं—श्रीकान्त, उसकी पत्नी-सुनीता और क्रांतिकारी मित्र-हरिप्रसन्न। जैसाकि शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि सुनीता ही उपन्यास की नायिका है, जिसके आधार पर इसका नामकरण किया गया है। वस्तुतः वही केन्द्रस्थ पात्र है, जिसकी धुरी पर कथा चहुँ ओर घूमती रहती है। इस उपन्यास में भी प्रेम त्रिकोणात्मक रूप में दिखाई पड़ता है, जिसमें हरिप्रसन्न का पलड़ा अधिक वजनदार प्रतीत होता है। सुनीता का मन अपने पति श्रीकान्त से हटकर, प्रेमी हरिप्रसन्न की ओर बार-बार भागता और प्रवृत्त हो जाता है। किन्तु यही एकमात्र सत्य नहीं है। वास्तव में चिन्तन और प्रणयमूलक संवेदना के दो छोर पर वह (सुनीता) दोलायित होती है। चिन्तन के स्तर पर वह अपने को श्रीकान्त की पत्नी कहती है और हृदय के मसृण भावों के स्तर पर वह अपने आपको हरिप्रसन्न की प्रेमिका के रूप में अनुभूत करती है। इस दुविधा में उसके मन में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है। इस प्रकार वह पति और प्रेमी—दो पुरुषों के बीच पेण्डुलम की तरह डोलती रहती है। फिर उसकी नियति न तो उसे पति की रहने दे पाती है और न प्रेमी की ही बनने देती है। रात्रि की निस्तब्ध वेला में, निर्जन और सुनसान जंगल में वह अपने प्रेमी हरिप्रसन्न के समक्ष निर्वसना (नंगी) हो जाती है, फिर भी अपने को श्रीकांत की पत्नी ही कहती और मानती है। इस तरह, एक ही साथ वह कम-से-कम दो जिन्दगी जी रही है। यही मानसिक तनाव है, जिसमें पड़कर आदमी प्रायः टूट जाता है। कम-से-कम जैनेन्द्र की नारी तो अन्त तक प्रश्न का प्रश्न ही बनी रह जाती है। इस प्रश्न का उत्तर जैनेन्द्र प्रश्न में ही देते हैं, समाधान का कोई पूर्णविराम नहीं खींच पाते। यही उनकी कला-चातुरी है। इस औचित्य को प्रो० जगदीश पाण्डेय के शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'जैनेन्द्र के नारी-पात्रों में शृंगार का जितना प्रश्न नहीं, उतना प्रश्न का प्रश्न है, निस्तार और उपचार का प्रश्न है, प्रणय नहीं, निर्णय का प्रश्न है, और यही कारण है कि जैनेन्द्र के नारी-पात्र बुद्धि और व्यवहार से पुरुष हैं, न कि अबला या मधुबाला।'[2]

जैनेन्द्र में भाव-बोध की एकतानता है—गीतकार का एकसुरापन। इसलिए

1. आज का हिन्दी-उपन्यास, पृ० 21
2. कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि, पृ० 59

संवेदना के एक ही टेक पर वे बार-बार टिक जाते हैं, कभी सम और कभी विषम स्वर में। पुनः प्रो० पाण्डेय की शब्दावली को उद्धृत करें तो कह सकते हैं कि 'जैनेन्द्र गल्प की ऐसी गृहिणी हैं, जिनके पास पदार्थ अनेक नहीं, लेकिन विविध रूप में बना-परसने की पाक-प्रवीणता है। × × × जहाँ तक पीड़ा का प्रश्न है, शरत की दुनियाँ में पीड़ा बन्धन के चलते हैं, जैनेन्द्र की दुनियाँ में गाँठ के चलते हैं। शरत में पत्नी से अधिक भाभी का आवरण है और जैनेन्द्र में पत्नी को देवर का भी सुख नहीं, यह कलंक है या पत्नी की तरह नंगी हो जाने की माँग है। चीर-हरण से लेकर चिर-वियोग के स्रष्टा जैनेन्द्र प्रेम में उस गोपी-तत्त्व के रूपकार हैं, जिसमें चीर गोपियाँ ही हटा देती हैं और वियोग का उपदेश स्वयं देती हैं।"[1]

कुंठा, संत्रास और घुटन आज के मनुष्य की सबसे बड़ी नियति है, जिसे जैनेन्द्र ने अपने पात्रों के माध्यम से प्रकाशित करने की भरपूर चेष्टा की है। 'सुनीता' में जो मानसिक उलझन, द्वन्द्व और तनाव है, लगभग वही स्थिति 'सुखदा' और 'विवर्त्त' की भुवनमोहिनी की भी है। 'सुखदा' में अहंकार से ग्रस्त और पीड़ित एक नारी की मार्मिक कथा है। 'विवर्त्त' की भुवनमोहिनी बहुत हद तक 'सुनीता' का ही प्रतिरूप मालूम होती है, जबकि 'जितेन' हरिप्रसन्न का। 'विवर्त्त' में 'जितेन' के माध्यम से जैनेन्द्र ने आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार किया है। आज का व्यक्ति-मानव परिस्थितियों के आवर्त्त में पड़कर, समाज से टूटकर अलग होता जा रहा है। विषम और भीषण सामाजिक बंधनों को यथावत् रूप में न तो वह ग्रहण कर पा रहा है और न ही उसका संवहन। स्वभावतः वह पलायनवादी और अन्तर्मुखी होता जा रहा है। जितेन ऐसा ही एक व्यक्ति-पात्र है, जो सामाजिक परिस्थिति के प्रति विद्रोह नहीं करता, प्राण-दण्ड के सामने सिर झुकाते हुए कहता है : 'सब तो यह जानते थे कि वह आजादी का, क्रांति का, विश्व की शांति का काम कर रहा है। यही मैंने उन्हें बताया था, लेकिन भीतर में ही यह खुद नहीं जानता था।···इसी से शायद मैं नेता था।··· बाहर सवाल ही था, कहीं भी हल न था···अब यहां आ गया हूं और हल पा गया हूं।···प्यार और कुछ नहीं होता, घृणा और कुछ नहीं होती। सब एक यही चीज होती है।···हम समझते हैं, यह दुनिया है और हम आज़ाद हैं···पर यह समझना खुद सवाल है···हल यह है कि यह जेल है और हम कैदी हैं। जेल भगवान की है, कैदी हम भगवान के हैं।[2]

'विवर्त्त' की भुवनमोहिनी 'सुनीता' की तरह ही 'काम-भावना' से ग्रस्त है।

1. कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि पृ० 58
2. विवर्त्त, पृ० 228-229

'काम-भावना' (सेक्स) के इस आंधी-तूफान में वह विवेक और मर्यादा तक को भूल जाती है : "मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, आँखों से लगाया, सारे चेहरे से लगाया और सुबकते-सुबकते कहा—'जितेन ! उठो !' जितेन ने कहा—'दरवाजा खुला है, बंद कर दो। इतनी नीच बनती हो। इसमें तुम्हें न आए, मुझे शरम आती है।" इस पर मोहिनी झुककर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पांव के मोजों पर बार-बार जितेन के दोनों पैरों को चूम उठी।[1] वास्तव में यह मोहिनी की काम-भावना की चरम स्थिति है, जो सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है, किन्तु डॉ० सुषमा धवन को नारी (मोहिनी) के इस निरीह आत्म-समर्पण में जुगुप्सा का बोध होता है,[2] परन्तु वास्तव में यह जुगुप्सा नहीं, प्रेम, शृंगार और काम-भावना का चरम-विन्दु (क्लाइमेक्स) है, जहाँ पहुंचने के बाद नारी सम्पूर्ण रूप से पुरुष के ऊपर अपने अन्तस् के सारे कोमल भावों को उड़ेल देना चाहती है। वैसी स्थिति में, उसमें न तो कोई बौद्धिक विभेद ही होता है और न किसी प्रकार के आवरण की परवाह अथवा चिन्ता ही। वास्तव में, यही 'काम' ('सेक्स') की सात्विकता है, जहां अनवरत रूप से माधुर्य का रस-वर्षण होता रहता है। अतः स्वयं नारी होने के कारण डॉ० सुषमा धवन ने तथ्य को नकार कर, उस पर जुगुप्सा-भाव का आरोपण कर, नारी-जाति के संकोच और लज्जा-वृत्ति का ही परिचय दिया है।

'त्यागपत्र' (सन् 1936 ई०) आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया जैनेन्द्र का एक ऐसा उपन्यास है, जिसमें (नायक) प्रमोद (सर एम० दयाल) तथा उसकी बुआ मृणाल (उपन्यास की नायिका) की मानसिक गुत्थियों को विश्लेषित किया गया है। उपन्यास का आरम्भ होता है—प्रत्यक् दर्शन-विधि (Flash back Technique) द्वारा। प्रमोद अपने अन्तस् की द्वन्द्वात्मक स्थिति तथा मानसिक तनावों के बीच कहता है : "**नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी।** जज हूं, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी को पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थी, यह भी कहने वाला मैं कौन हूं। पर आज मेरा जी अकेले में उन्हीं के लिए चार आंसू बहाता है।···उन बुआ की याद जैसे मेरे सब कुछ को खट्टा बना देती है। क्या वह याद अब मुझे चैन लेने देगी···याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"[3] पाप-पुण्य,

1. वही, पृ० 196
2. हिन्दी-उपन्यास, पृ० 194
3. जैनेन्द्र कुमार : 'त्यागपत्र', पृ० 9

नैतिक-अनैतिक तथा श्लील-अश्लील के प्रश्नों को उपन्यासकार ने व्यक्ति-पात्र (मृणाल) के माध्यम से विवेचित किया है। किन्तु, कोई स्पष्ट समाधान न देकर प्रश्नों की दार्शनिकता और उलझनों में और भी अधिक उलझा देते हैं। 'मृणाल' ही वह केन्द्रस्थ पात्र है, जिसकी धुरी पर उपन्यास की कथा विभिन्न दिशाओं में मुड़ती हुई घूमती है। कथा, चाहे कथा भर रह जाए, किन्तु मृणाल सर्वथा सजीव, संवेदनशील और करुणा से स्नात है। इसलिए उसमें पाठकों की सहानुभूति ग्रहण करने की भरपूर क्षमता वर्तमान है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "पूरे उपन्यास में मृणाल का चरित्र, अपने असाधारण संकटों के कारण, पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करता है। मृणाल के चरित्र में उस प्रकार का हल्कापन नहीं है, जिस प्रकार का हल्कापन जैनेन्द्रजी के अन्य कतिपय नारी-पात्रों में मिलता है : मृणाल की सारी पीड़ाएँ और वेदनाएँ सामाजिक असंगतियों का परिणाम है। वह अपनी ओर से एकदम निरपराध है। जैनेन्द्र के अन्य नारी पात्रों में पति की उपेक्षा करके पर-पुरुष के प्रति जो एक प्रच्छन्न आकर्षण मिलता है, वह भी इस उपन्यास की नायिका— मृणाल में व्यक्त नहीं है। जैनेन्द्र ने बड़े कौशल के साथ उसे एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरुष से सम्बन्धित किया है। पर यहाँ वेदना के आधिक्य के कारण पाठक की संवेदना मृणाल को ही मिलती है।"[1]

मृणाल के चारित्रिक विश्लेषण के माध्यम से एक ओर आज के मनुष्य की कुण्ठा, घुटन और टूटन की संवेदना व्यक्त होती है तो दूसरी ओर समाज के रस्साकशी से विमुख होने—पलायन करने की प्रवृत्ति। मृणाल कोयले वाले को लेकर भाग जाती है किन्तु समाज के विधान को तोड़ने-फोड़ने में सक्षम नहीं हो पाती। यह उसका पलायन है : पहले सामाजिक स्तर पर, फिर वैयक्तिक स्तर पर। यह उसकी आधुनिक संवेदना है। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का यह मत उल्लेखनीय प्रतीत होता है : "मृणाल में असाधारणता है। जीवन में सदा नकार पाते रहकर भी उसका मन अतिशय संवेदनशील हो गया है। ऐसी स्थिति में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। मृणाल के साथ यह स्थिति विवशता के अतिरिक्त चुनौती भी हो सकती है।"[2]

'कल्याणी' (1938 ई०) 'त्यागपत्र' के शिल्प पर लिखी गई जैनेन्द्र की एक ऐसी औपन्यासिक कृति है, जिसकी रचना आत्मकथानक शैली तथा प्रत्यक् दर्शन प्रणाली (Flash back Technique) के द्वारा हुई है। इसमें उपन्यास की

1. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न, पृ० 199
2. डा० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति', पृ० 140-141

नायिका 'कल्याणी' का अंतर्विश्लेषण बड़े कौशल के साथ किया गया है। पात्रों के द्वारा प्रयुक्त कथोपकथन के माध्यम से 'कल्याणी' का चारित्रिक विश्लेषण उद्घटित होता है। एक स्थल पर स्वयं वह अपने चरित्र-विकास को इन शब्दों में आत्मविश्लेषित करती है : "विवाह से पहले मैं—खुद थी। विवाह के बिना मैं रह सकती थी। मेरा बोझ मुझसे उठ सकता था, फिर भी मैं अविवाहित नहीं रही। चाहे जो कह दीजिए, नहीं रह सकती थी। क्योंकि वही होता है। पर मैं अकेली अपने को भारी नहीं थी। मेरी सभी किताबें उसी काल लिखी गईं। खैर, विवाह हुआ। वह एक कहानी है पर, छोड़िए। विवाह से स्त्री पत्नी बनती है। पत्नी यानी गृहिणी। पत्नी से पहले स्त्री कुछ नहीं होती, बस वह कन्या होती है। पर मैं कुछ थी। निरी कन्या न थी, डॉक्टर थी। अब सवाल है मेरी शादी और मेरी डॉक्टरी, मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व। ये परस्पर कैसे निभें ?"[1]

कल्याणी का सम्पूर्ण जीवन अन्तर्द्वन्द्वों से आक्रांत और बोझिल है। मानसिक उलझनों से वह ग्रस्त और परेशान है। जीवन में उसने वही सब कुछ किया, जो असंभव लगता है। प्रारम्भ में वह घोर आस्तिक प्रवृत्ति की है, पर बाद में मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों के आवर्त्त में पड़कर वह सर्वथा बदल जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि वह मादक द्रव्यों का सेवन करने लगती है और आस्तिक मन की आशा खो देती है। उसकी सम्पूर्ण मनःस्थिति का ज्ञापन उसके अपने ही इस परिकथन से हो जाता है : "मैं नफ़रत करना चाहती हूं। अपने से, सबसे। ईश्वर से। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इससे ईश्वर प्रेम-प्रवंचना है।"[2] घृणा और प्रेम में परस्पर यमज-सम्बन्ध (Twins relations) होता है। दोनों एक-दूसरे के समानान्तर समानुपातिक गति से गतिमान होते हैं। एक ही व्यक्ति के अंदर दोनों का अस्तित्व होता है। कभी एक की प्रबलता होती है तो कभी दूसरे की। कभी-कभार तो इस घृणा अथवा नफ़रत की परिणति आत्मपीड़न में होती है। कल्याणी इसका प्रमाण है, जो बाद में आत्म-पीड़न से अभिग्रस्त है। इस प्रकार, कथा में दैहिकता तो अत्यल्प किन्तु मानसिकता ही प्रबल और तीव्र रूप में दिखाई पड़ती है। डॉ० देवराज उपाध्याय का यह कहना कि—'मनोवैज्ञानिक उपन्यास में व्यक्ति नहीं रहता, विशुद्ध मानसिक वातावरण ही रहता है'[3]—कल्याणी के सन्दर्भ में बिल्कुल उचित ठहरता है।

'व्यतीत' (सन् 1953 ई०) जैनेन्द्र का पुरुष प्रधान उपन्यास है, जिसकी

1. जैनेन्द्र : 'कल्याणी' पृ० 32
2. जैनेन्द्र : 'कल्याणी', पृ० 96
3. आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 149-150

समस्या लगभग वही है, जो 'सुनीता' या 'विवर्त्त' की रही है। इसका नायक जयन्त प्रत्यक्-दर्शन प्रणाली (Flash back Technique) और आत्मकथात्मक शैली में अपने अतीत (व्यतीत) को मानस-पटल पर दुहराता अथवा उनका प्रत्याह्वान (Recall) करता है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही जयन्त, जो भावुक और कवि है--अपनी पैंतालीसवीं वर्ष-गांठ के अवसर पर कहता है: "व्यतीत! .... आज इस जन्म-तिथि के दिन सवेरे ही सवेरे यह क्या शब्द उठकर मेरे सारे अन्तरंग में समाता रहा है। क्या इस पैंतालीस वर्ष की अवस्था में यही अनुभव करूँ कि मैं अब व्यतीत हूं। यह सोचते अचरज होता है, डर होता है। पैंतालीस तो कोई अवस्था होती नहीं। इस वय में बीत कर रह जाने का क्या मतलब है। लेकिन कुछ करूँ, इस बोध से छुट्टी नहीं मिलती है कि अब मैं बीते पर हूँ, आगे के लिए नहीं हूं। सोचता हूं कि यह क्या हो गया...।"

प्रस्तुत उपन्यास की प्रेम-कथा भी जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की भाँति त्रिपार्श्व पर स्थित है। अर्थात् संपूर्ण कहानी जयंत, अनिता और मिस्टर पुरी के इर्द-गिर्द घूमती है। फिर भी, जयंत ही वास्तव में औपन्यासिक कथा की धुरी है। उसके चरित्र और अंतर्व्यक्तित्व का सूक्ष्म विश्लेषण ही उपन्यासकार जैनेन्द्र का अभीष्ट है। एक आलोचक के मतानुसार—'व्यतीत' एक पुरुष की एक स्त्री के प्रति—जयंत की अनिता के प्रति—रुग्ण आसक्ति (Morbid fixation) की अवस्था में पुरुष की मनःस्थिति का लेखा है। इस आसक्ति के मूल में जयंत की आहत अहमन्यता अवस्थित है।"[2] जयंत असफल प्रेमी है। अनिता से उसका असीम प्यार है। सामाजिक बंधन के कारण अनिता मिस्टर पुरी की परिणीता पत्नी बनती है। फिर भी दोनों का आंतरिक मन एक-दूसरे से चिपटा हुआ है। लेकिन उनकी नियति उन्हें एक देह नहीं होने दे पाती। जयंत घोर भावुक है। स्थानापन्न के रूप में अनिता के मूल्य पर उसे किसी और नारी की देह काम्य नहीं है। अगर ऐसा होता तो वह सुमिता, बुधिया अथवा चन्द्री—किसी के भी साथ अपने तन-मन का गठबंधन कर जीवन को सरस और संतुलित बनाने में सक्षम होता। किन्तु, ऐसा नहीं हो पाता। अनिता का प्यार न मिल सकने से उसका मन टूट जाता है। फलस्वरूप, वह न तो सुमिता के प्रति आकृष्ट हो पाता है और न चन्द्री का होकर भी उसका अपना बन पाता है। अनिता के वियोग में वह खासा एक मनोवैज्ञानिक पात्र है, जिसमें कभी तो हीनता-ग्रन्थि (Inferiority complex) जन्म लेती है और कभी अहं तथा आत्मपीड़न से ग्रस्त व परेशान है।

1. जैनेन्द्र : 'व्यतीत', पृ० 1
2. रघुनाथ शरण झालानी : 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास', पृ० 8

सामाजिक भेद-भाव और विषमता से वह घृणा करता है। वह कवि है। अतः काव्य के प्रति उसके मन में स्वाभाविक रुझान है। भावुक होने के कारण काव्य की संवेदना वह सबमें देखता और देखना चाहता है। वह सोचता और कहता है : 'कविता, मालूम होता है, सबमें है। उसी से अभेद है। लेकिन भेद पर समाज टिकता है। कविता से समाज को यही लाभ है और यही खतरा है। बुजुर्ग लोग भेद की लकीरों को पहचानते और पालते हैं। उन्हें यहाँ तक लगता है कि लकीरें ही सत्य की भाषा है। जवान किन्तु जिन्दगी के पास होते हैं और नीतिनियमों से दूर। इसी से कविता के पंखों पर बैठकर मर्यादा की लकीरों को लाँघ जाना उन्हें उतना कठिन नहीं होता।'[1] इस उद्धरण से इतनी बात साफ हो जाती है कि जयन्त कविता के सहारे तथाकथित सामाजिक मर्यादा की सीमा का अतिक्रमण करना चाहता है। वास्तव में, परम्परा और रूढ़ि के विरुद्ध यह नये और स्वस्थ प्रत्ययों के विचारों का प्रमाण है। यानी इस रचना के माध्यम से (भी) रचनाकार जैनेन्द्र ने नव्यतम संवेदनाओं को स्वीकार कर, रूढ़िवादी विचार-परम्परा के आगे प्रश्न-चिह्न लगाया है। अतएव कहा जा सकता है कि अपने इस उपन्यास में जैनेन्द्र ने आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार रचनात्मक स्तर पर किया है।

जयंत अपने असफल प्रेम में इतना बिखर और टूट चुका है कि जीवन भी उसे असार और भार-स्वरूप प्रतीत होने लगा है। उसके मन की लघुत्व-भावना, अहम्मन्यता, बिखराव और कुण्ठा की परिणति जीवन के प्रति पलायन और विकर्षण में होती है। वह सोचता है; 'जीवन व्यर्थ भार ही है। क्यों कहीं इसे कभी देकर खो नहीं सका, ताकि कुछ पा जाता और यों भटकता न फिरता। लेकिन सुनता हूं दूसरा भी जन्म है। अब तो उसी में आस है।'[2] जयन्त की लघुत्व-भावना, अहम्मन्यता, निराशा, बिखराव, घुटन-टूटन और कुण्ठा, वास्तव में आज की नयी व अभिशप्त पीढ़ी की बेबसी है, जिसका उद्घाटन और विश्लेषण करना जैनेन्द्र का परम उद्देश्य है। इस प्रकार, इस विवेचन के पश्चात् निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि जैनेन्द्र ने अपने इन उपन्यासों के माध्यम से सर्वथा नयी संवेदना और नयी संचेतना को सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है, जिसमें बहुत दूर तक उन्हें सफलता की उपलब्धि हुई भी है।

जैनेन्द्र के विवेचित इन सभी उपन्यासों की अपेक्षा उनके 'जयवर्द्धन' और 'मुक्तिबोध' में पर्याप्त भिन्नता और आमूलचूल समसामयिकता दिखाई पड़ती है।

1. जैनेन्द्र कुमार : 'व्यतीत', पृ० 27
2. जैनेन्द्र कुमार : 'व्यतीत', पृ० 169-170

'जयवर्द्धन' में भविष्य (सन् 2007 ई०) के भारत की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था व स्थिति का काल्पनिक चित्र आकलित किया गया है, जो एक विदेशी पत्रकार निलवर हूस्टन की डायरी पर आधृत है। इस उपन्यास में भी आत्मरति का प्राधान्य है। सम्पूर्ण प्रेम-कथानक जयवर्द्धन, इला और स्वामी चिदानन्द—तीन बिन्दुओं पर खड़ा होता है यानी इसकी स्थिति भी त्रिकोणात्मक हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों के उक्त विवेचन के आधार पर जिन निष्कर्षों तक पहुँचा जा सकता है, वे इस प्रकार हैं :

- जैनेन्द्र ने हिन्दी-उपन्यास को किस्सागोई के धरातल से ऊपर और ऊँचा उठाकर तीव्र संवेदना के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। इसलिए उनमें कथा-तत्त्व का ह्रास या अभाव तथा व्यक्ति का अन्तर्विश्लेषण प्रमुख हो उठा है।

- ये उपन्यास पुरातन और निष्क्रिय मूल्यों को खण्डित और अस्वीकार कर, नयी संवेदनाओं तथा भाव-चेतना का अर्थापन करते हैं।

- जैनेन्द्र ने समष्टि—स्थूल से अलग हटकर, व्यष्टि-सूक्ष्म को स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि व्यक्ति के माध्यम से वे समाज की तह तक पहुँचना चाहते हैं।

- इनके उपन्यासों में आधुनिक व्यक्ति-मानव के यथार्थ चित्र आकलित हैं। इन चित्रों में खुरदुरापन अवश्य है, जिसके लिए जैनेन्द्र ने मनोविश्लेषण-परक खुर्दबीन का सहारा लिया है।

निष्कर्षता : जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में आधुनिकता की चुनौती और प्रक्रिया को वैयक्तिक स्तर पर स्वीकार कर हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को मनोवैज्ञानिक परिवेश और नव चिन्तन का नया आयाम प्रस्तुत किया है।

जैनेन्द्र की इस व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक परम्परा को विकसित और परिपुष्ट किया इलाचन्द्र जोशी ने। इन्होंने एक ओर मनोविज्ञान को शास्त्रीय सिद्धिपीठिका और गहराई दी तो दूसरी ओर उसे जीवन के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का उपक्रम व प्रयास किया। इनका अभिमत है कि "व्यक्तिगत जीवन की समस्याएँ ही संसार के महान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चक्रों के बीज रूप—बल्कि मूलगत प्रतीक और आधारभूत सिद्धांत हैं। जब तक आप इन 'व्यक्तिगत समस्याओं' के भीतर निहित रूपकों में विश्व के विराट् बाह्य जीवन-चक्र की समस्याओं को देखने की दृष्टि नहीं रखेंगे तब तक आप न तो

यथार्थ प्रगति के रूप से परिचित हो सकते हैं, न साहित्य-कला के मूल प्राणों का विकास आपके आगे भासित हो सकता है।"[1]

ऊपर के इस उद्धरण से यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति के वाह्य जीवन की अपेक्षा भीतरी सत्य पर ही विशेष बल देना चाहते हैं। जैनेन्द्र और जोशी में अन्तर यह है कि एक ने कतिपय विशिष्ट पात्रों का अध्ययन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में किया है, तो दूसरे ने पात्रों के सहारे मनोविज्ञान के कुछ सिद्धांतों और मनःग्रंथियों का परीक्षण और उद्घाटन किया है। इसलिए एक के लिए मनोविज्ञान साधन और अभिव्यक्ति का माध्यम है तो दूसरे (जोशी) के लिए वह साध्य और अभीष्ट बन गया है। यही कारण है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों की कथावस्तु का विकास स्वाभाविक रूप में होता चलता है, जबकि इलाचंद्र जोशी की औपन्यासिक कथावस्तु में जगह-जगह कृत्रिमता और आयासिकता का अहसास होता है। यह आयासिकता वास्तव में मनोविश्लेषण की सैद्धान्तिक पेचीदगी को वस्तु और शिल्प में ढालने के कारण अधिक है। फ्रायड की मनोवैज्ञानिक उपलब्धि के महत्त्व को इन्होंने इन शब्दों में स्वीकार किया है: "उसने वैज्ञानिक आधार पर अवचेतन मन-सम्बन्धी सिद्धांत की स्थापना की और वैज्ञानिक पद्धति से ही उसका विश्लेषण और विवेचन किया। इस कोरे वैज्ञानिक युग में उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या अत्यन्त लोकप्रिय हो उठी। उसकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी था कि उसने यौन-प्रवृत्ति को मानवमन तथा मानव-जीवन की मूल परिचालिका शक्ति माना है। उसका कहना है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य यौन-प्रवृत्ति के खुले प्रदर्शन को सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय, अतएव नैतिक दृष्टि से घृणित समझने लगा और वह उस विशेष प्रवृत्ति से सम्बन्धित मनोवेगों को भरसक अपने मन के भीतर दबाते रहने का प्रयत्न करता चला आता है। वे दमित मनोवेग एकदम लुप्त नहीं हो जाते, वे उसके सचेत मन के नीचे मन के अवचेतन भाग में एकत्रित होते रहते हैं। उनके दमित मनोवेगों में कभी-कभी भूकम्प आ जाता है या मंथन होने लगता है। सचेत तथा अचेतन मन के बीच द्वन्द्व मचता है, जिसके फलस्वरूप विविध मानसिक उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार हमारे स्वभाव की जितनी भी विकृतियाँ हैं उनका मूल कारण दमित यौन-प्रवृत्ति है।[2] इलाचंद्र जोशी की प्रायः समस्त औपन्यासिक कृतियाँ व्यक्ति के इसी दमित यौन-भाव की कथा-गाथा हैं। इसीलिए उनके उपन्यासों से पात्र

1. इलाचंद्र जोशी : 'विवेचना', पृ० 172
2. इलाचंद्र जोशी : 'विश्लेषण', पृ० 107

प्राय: असामान्य अर्थात् अहंवादी, कुण्ठित और किसी-न-किसी मनोग्रन्थि से पीड़ित प्रतीत होते हैं। उनके उपन्यास—'प्रेत और छाया' से लेकर 'जिप्सी' तक सबके सब किसी-न-किसी विशिष्ट मनोग्रन्थि को लेकर लिखे गये जान पड़ते हैं। उदाहरण के बतौर 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ को देख सकते हैं, जो एक ओर 'इडिपस कॉम्पलेक्स' से पीड़ित व ग्रस्त होकर अपने पिता से घृणा करता है और दूसरी ओर हीनता की भावना (Inferiority complex) के कारण किसी भी स्त्री की पवित्रता पर विश्वास नहीं कर पाता। उसके अचेतन मन में उसकी अपनी मां के सतीत्व-स्खलन की बातें चूंकि जड़ीभूत हो गई हैं, इसलिए वह शंकालु बन जाता है। भविष्य में यही शंका, उसके मन में विद्रोह का भाव जाग्रत करती है।

'संन्यासी' का नायक नन्दकिशोर कुंठा और अहंभाव से परेशान है, जिसकी परिणति संदेह, ईर्ष्या और आत्म-रति में होती है। नन्दकिशोर सर्वथा अहंवादी है। वह अपने इस अतिशय अहं भाव के कारण न तो स्वयं सुखी और सन्तुष्ट हो पाता है और न उसे ही सुखी और प्रसन्न कर पाता है, जिससे प्यार करता है। वास्तव में, उसका स्नेह और प्यार भी अहंभाव पर ही आधृत-स्थित है। शांति उसके चप्पे-चप्पे से प्यार करती है। प्रेम में वह इस हद तक आसक्त हो जाती है कि लोक-लज्जा और घर-बाहर की परवाह किए बिना अपने प्रेमी—नन्दकिशोर के साथ निकल जाती है। किन्तु कुछ ही समय के बाद नन्दकिशोर का स्नेह-भाव संदेह में बदल जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शांति विवश होकर उसे छोड़ देती है। बाद में वह जयंती से शादी करता है किन्तु अपने अतिशय अहं भाव और संदेह-वृत्ति के कारण उसे भी खो देता है। अन्त में वह सबसे संन्यास लेकर रिक्त जीवन व्यतीत करने की ओर प्रवृत्त और विवश हो जाता है। इस प्रकार 'संन्यासी' की मूल समस्या व्यक्ति की अह भावना ही जान पड़ती है, जिसका मूर्त्तविधान है—नन्दकिशोर। इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए स्वयं उपन्यासकार इलाचन्द्र जोशी ने एक स्थल[1] पर लिखा है : "मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहं भाव की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही है, त्यों-त्यों उसका अहं भाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी न तृप्त होने वाले अहं भाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक सफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया

1. 'विवेचना' पृ० 123

के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश की योजना में जुट जाता है। उसकी इस विनाशात्मक क्रिया का सबसे पहला और सबसे घातक शिकार बनना पड़ता है नारी को। युगों से प्रपीड़ित और शोषित वर्ग है यह नारी। उसे और अधिक प्रपीड़ित और अधिक शोषित करने की चेष्टा में आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिवादी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं।"

ऊपर के इस विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार जोशी की अभीष्ट है—यथार्थ के धरातल पर व्यक्ति के सूक्ष्म अहं भाव का निरूपण व विश्लेषण प्रस्तुत करना और उससे आबद्ध अन्य प्रवृत्तियों, जैसे, कुण्ठा, हीन-भावना और विघटन आदि का प्रदर्शन कराना। 'संन्यासी' का नायक नन्द-किशोर इसका अच्छा-खासा प्रमाण है। इसके संबंध में विचार करते हुए गंगाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा है : 'संन्यासी' में यथार्थ की जीवन-भूमि पर मानवीय मनोभावों का सूक्ष्म तरंगाभिघात एवं जीवन के मूल तत्त्वों का विश्लेषण और विवेचन अपनी एक खास खूबी रखता है। जीवन के बाह्य तथा अन्तर के भावों-प्रतिभावों का भीषण संघर्ष और उसका समुचित सामंजस्य 'संन्यासी' में मिलता है। आज का अहं-पीड़ित मानव अपने अन्तरतम में छिपी हुई जिन विनाशकारी प्रवृत्तियों के कारण जीवन की आधुनिक दुरवस्था में पहुँचा है, उन्हीं के संयोजन और संतुलन का स्वर जोशी ने साहित्य में ऊँचा किया है।"[1] अन्त में निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास ('संन्यासी') का वातावरण निराशा, अन्धकार, अवसाद तथा विषाद का है। शांति की जीवन-यात्रा, नन्दकिशोर का संन्यासी हो जाना, जयंती की आत्महत्या कुण्ठित और विकृत जीवन के उदाहरण हैं।[2]

इलाचन्द्र जोशी का 'जिप्सी' सम्मोहन (Hypnotism) और भय पर आधारित मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। इसमें एक जिप्सी लड़की—मनिया के मानसिक द्वन्द्वों, उद्वेगों एवं अन्तर्भावों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इसमें मानव-ग्रन्थियों की जटिलताओं की इतनी अधिक विशदता है कि लगता है उपन्यासकार ने जैसे इनका पूर्व नियोजन कर रखा हो। इसलिए डॉ० देवराज उपाध्याय को यहाँ तक कहना पड़ा कि 'इस उपन्यास ('जिप्सी') में से अनेक प्रसंग उद्धृत किए जा सकते हैं, ऐसे विचार दिखलाए जा सकते हैं, जो

1. 'हिन्दी-कथा-साहित्य' पृ० 107-108
2. डॉ० सुषमा धवन : हिन्दी उपन्यास : पृष्ठ 210

इस उपन्यास से अधिक मनोविज्ञान की पुस्तक के लिए उपयोगी हो सकते थे।"[1]

इलाचन्द्र जोशी के परवर्त्ती तीन उपन्यास सामने आए—'सुबह के भूले', 'जहाज का पंछी' और 'ऋतुचक्र'। इन उपन्यासों में 'जहाज का पंछी' काफी विख्यात और चर्चित हुआ। विषय और शिल्प—दोनों ही दृष्टियों से जोशी के इस उपन्यास में मौलिकता और नयापन है। उत्तम पुरुष यानी 'मैं' शैली में लिखे गए इस उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने महानगर कलकत्ता को कथात्मक केन्द्र के रूप में प्रस्तुत कर, आज के सामाजिक जीवन की विकृतियों और उसके घिनौनेपन का अच्छा-खासा चित्र आकलित किया है। इसका नायक 'मैं' समाज के अनेक वर्गों में भटकता, दर-दर की ठोकरें खाता और अन्त में ऊबकर, निराश होकर उसे पुनः अपनी पहली जगह और अवस्था में आने को विवश होना पड़ता है। इस प्रकार, प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने आज के कुण्ठित, संत्रस्त, बिखरे और असहाय मनुष्य की रूपरेखा का प्रस्तुतीकरण किया है।

इलाचन्द्र जोशी ने आधुनिकता की चुनौती को संवेदना के बजाय वैचारिक धरातल पर स्वीकार किया है। यही कारण है कि सैद्धान्तिक और वैचारिक तत्त्व इनकी सृजन-प्रक्रिया पर हावी होता हुआ दिखाई पड़ता है। यह इनकी औपन्यासिक कला की सीमा है। जोशी ने आज के मनुष्य की समस्याओं का कारण बाहरी नहीं, अपितु भीतरी ठहराया है। महानगर की बाहरी सभ्यता और भीड़ की कशमकशी में व्यक्ति का चेहरा खो गया है। उस भीड़ में चेहरे की पहचान नहीं हो रही। यहाँ हर व्यक्ति आत्म-स्वार्थ से प्रेरित और संचालित हो रहा है। उपन्यासकार के शब्दों में—"व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता और अपने-अपने तुच्छ अहं की तुष्टि की चंचल आकांक्षा ने आज के युग में प्रत्येक मनुष्य को अपने-आपमें इस हद तक तल्लीन बना दिया है कि भीड़ में परस्पर ठेलमठेल होते रहने पर भी एक व्यक्ति के हृदय का कण-मात्र सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के हृदय में नहीं रह गया है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्वार्थ की भावना ही प्रबल है और वह व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के उद्देश्य से ही सामूहिक स्वार्थ में योग देता है।"[2]

इलाचन्द्र जोशी वास्तव में, मध्यवर्गीय चेतना का सजग कलाकार हैं। यह एक ऐसा वर्ग है, जो अपनी सीमा को नज़रअन्दाज़ कर, उच्चवर्गीय जीवन-स्तर को भोगने का 'पोज़' करता है। फलस्वरूप, उसका जीवन द्वन्द्वों और दुविधाओं में दोलायित ही नहीं होता, वरन् कभी-कभी बुरी तरह टूट भी जाता

1. आधुनिक कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 256
2. 'जहाज का पंछी', पृ० 58

है। इस 'पोज' और प्रदर्शन के पीछे मूल रूप से अहं का भाव काम करता है। उपन्यासकार जोशी ने मध्यवर्ग की इस अहंग्रस्त व रुग्ण चेतना का चित्रांकन इन शब्दों में किया है : 'आज का मानव न स्वयं अपने को समझ पा रहा है, न दूसरे को समझना चाहता है। प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति बाहर से भरा-पूरा रहने पर भी अपने निपट संकीर्ण अहम् में डूबा रहने के कारण अपने भीतर किसी एक अनन्त हाहाकार भरे स्पष्ट अभाव का अनुभव कर रहा है और प्रत्येक अकिंचन व्यक्ति सारे जीवन को ही अभावमय, अर्थहीन और अनावश्यक मानकर जहाँ तक सामर्थ्य है उसके भार को किसी तरह ढोता चला जा रहा है। बीच वाले व्यक्ति प्रतिक्षण जीवन और मृत्यु के झूले में झूलते हुए परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के क्रूर परिहास के शिकार बन रहे हैं। सर्वत्र भय, संशय,अनास्था और अविश्वास का बोलवाला है और सब कहीं झूठ और ढोंग का राज्य छाया हुआ है। सब ओर जीवन अरक्षित अव्यवस्थित है। सब के मन के अणु बिखर कर छितरा गये हैं और विस्फोटक तत्त्वों से भरे हुए हैं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है कि इलाचन्द्र जोशी ने आधुनिकता की चुनौती को व्यक्ति के धरातल पर स्वीकार किया है। आज का मानव कुण्ठा, संत्रास, अनास्था, विघटन, घुटन और टूटन का बुरी तरह शिकार हो गया है। पर इसका कारण बाहरी न होकर व्यक्ति के स्वयं अपने भीतर ही विद्यमान है। यही कारण है कि जोशी ने व्यक्ति की समस्या की तलाश बाहर करने के बजाय उसके स्वयं के भीतर ही करना बेहतर समझा है। मेरे इस कथन की पुष्टि के लिए इनका यह उद्धरण पर्याप्त है, जहाँ इन्होंने अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण को प्रतिपादित करते हुए लिखा है : "मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंभाव की ऐकान्तिकता पर निर्मय प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' इन चारों उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। आधुनिक समाज में पुरुष की बौद्धिकता ज्यों-ज्यों बढ़ती चली जा रही, त्यों-त्यों उसका अहंभाव तीव्र से तीव्रतर और व्यापक से व्यापकतर रूप ग्रहण करता चला जाता है। अपने इस कभी न तृप्त होने वाले अहंभाव की अस्वाभाविक पूर्ति की चेष्टा में जब उसे पग-पग पर स्वाभाविक असफलता मिलती है, तो वह बौखला उठता है और उस बौखलाहट की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वह आत्म-विनाश के पहले अपने आस-पास के संसार के विनाश की योजना में जुट जाता है। × × × आज का अहंवादी पुरुष बुद्धिजीवी भी है, इसलिए अपनी मनोवृत्ति की यथार्थता

1. 'जहाज का पंछी', पृ० 59

से बहुत कुछ परिचित भी रहता है और इसी कारण उसके भीतर विस्फोटक संघर्ष मचते रहते हैं। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्‌घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि **'मनोवैज्ञानिक उपायों'** (उनका ही यह प्रयुक्त शब्द है) से व्यष्टि सत्य का उद्‌घाटन और पुन: मूल्यांकन करना ही उनके उपन्यासों का अभीष्ट है। 'उपाय' में जो सायास योजना निहित होती है, इनके उपन्यासों में उसका साकार और प्रत्यक्ष रूप दिखाई पड़ता है। एक बात यहाँ और भी ध्यातव्य यह है कि जोशी के उपन्यासों में चूँकि मनोविश्लेषण का अथाह आग्रह वर्तमान है, इसलिए उनका रचनाकार कभी-कभी घटनाओं की अस्वाभाविक खींचातानी करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। प्रकारांतर से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन्होंने आधुनिकता, विशेषकर मनोविज्ञान की चुनौती को विधेयात्मक तौर पर स्वीकार तो अवश्य किया है, किन्तु संवेदना के स्तर पर नहीं, अपितु वैचारिक और सैद्धान्तिक धरातल पर। यदि संवेदना के स्तर पर उन्होंने मनोविज्ञान का ग्रहण किया होता तो निश्चयही उनकी रचनाओं की ऊर्जा का और भी अधिक संवर्द्धन हुआ होता। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत जान पड़ता है कि 'जहाँ (कहीं) इनका (जोशी का) मनोविज्ञान इनके सृजन पर हावी है, वहाँ इसकी सीमा का आभास देता है और जहाँ यह रचना-प्रक्रिया में व्याप्त है, वहाँ इसकी उपलब्धि का सूचक है।'[2]

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के अध्ययन और उनके दृष्टिकोणों के विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त, निष्कर्ष के बतौर निम्नांकित तथ्य हमारे हाथ लगते हैं :

- जैनेन्द्र की भाँति इलाचन्द्र जोशी भी व्यक्तिवादी और मनोविश्लेषण-वादी कथाकार हैं। अत: इनमें 'किस्सा गोई' का अभाव तथा व्यक्ति के अन्तर्मन के विश्लेषण का प्रयास अधिक है।
- जैनेन्द्र ने आधुनिकता विशेषकर मनोविज्ञान की चुनौती को प्राय: संवेदना के धरातल पर स्वीकार किया है, जबकि जोशी ने उसे ही वैचारिक व सैद्धान्तिक स्तर पर ग्रहण किया है। यही कारण है कि

1. साहित्य संदेश, अक्तूबर, पृ० 1944
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास' : पृ० 30

सैद्धान्तिक और वैचारिक तत्त्व इनकी सृजन-प्रक्रिया पर हावी होता हुआ दिखाई पड़ता है। यही इनकी उपन्यास-कला की सीमा है।

- इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति के बाह्य जीवन की अपेक्षा भीतरी सत्य पर ही विशेष बल देते हैं। जैनेन्द्र और जोशी में मूल अन्तर यह है कि एक ने कतिपय विशिष्ट पात्रों का अध्ययन मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में किया है तो दूसरे ने पात्रों के सहारे मनोविज्ञान के कुछ सिद्धान्तों और मानव-मन की ग्रन्थियों का परीक्षण और उद्घाटन किया है। अत: एक के लिए मनोविज्ञान साधन और अभिव्यक्ति का माध्यम है तो दूसरे अर्थात् जोशी के लिए वही साध्य और अभीष्ट-सा बन गया है।
- जोशी के प्राय: समस्त उपन्यासों में व्यक्ति-मन के अन्तर्संघर्ष का विश्लेषण किया गया है, जिसकी परिणति होती है—व्यक्तित्व की, अस्तित्व की तथा 'आइडेंटिटी' की खोज में। विघटन और अनास्था के भाव तथा चित्र वस्तुत: इसी के परिणाम हैं।

जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ने कथा साहित्य में निरूपित स्थूल आदर्श के विरुद्ध जिस सूक्ष्म और प्रकृत यथार्थ का विद्रोह व्यक्त किया, उसकी चरमपरिणति हुई—अज्ञेय के उपन्यासों में। जाहिर है कि इनके उपन्यास भी खासा मनोविश्लेषणात्मक हैं। किन्तु, जैसाकि प्रारम्भ में ही कहा गया है, अज्ञेय अपने लेखन में **'प्रयोग का अन्वेषण'** के प्रति सदैव सशक्त और सजग (कॉन्शस) रहे हैं। काव्य ही नहीं, अपितु इनके उपन्यास भी इसी प्रयोग-शील दृष्टि के प्रमाण हैं।

डॉ० देवराज के मतानुसार, "संवेदना के सूक्ष्म अंकन में, और कहीं-कहीं, भावात्मक प्रवेग में (यह विशेषता 'शेखर' में अधिक प्रतिफलित हो सकी है) अज्ञेय उक्त दोनों लेखकों (प्रेमचन्द और जैनेन्द्र) से बाजी ले जाते हैं।"[1]

ऊपर के समस्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष-बिन्दु पर पहुँचते हैं कि आधुनिक हिन्दी-उपन्यास ने प्रेमचन्द के **'गोदान'** के माध्यम से जहाँ अपनी नयी आधुनिक यात्रा की शुरुआत की, वहाँ उसने **'अज्ञेय'** के सुप्रसिद्ध उपन्यास **शेखर एक जीवनी** के द्वारा दूसरे और महत्त्वपूर्ण मोड़ का संधान किया। हिन्दी उपन्यास की यह यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर—स्थिति से अधिक गति की ओर बढ़ती गई। अज्ञेय के बाद भी हिन्दी उपन्यास विभिन्न नामों, नारों और

1. डॉ० देवराज : 'प्रतिक्रियाएँ' पृ० 113

आन्दोलनों के बहाने अज्ञेय के आस-पास ही चक्कर काट रहा है : कभी 'वस्तु' को लेकर तो कभी 'शिल्प' के स्तर पर। अज्ञेय एक विशिष्ट उपन्यासकार हैं, जिनका बहुविध प्रभाव आधुनिक हिन्दी-उपन्यास पर पड़ा। इस प्रकार, उनकी औपन्यासिकता का गहरा रंग दिखाई पड़ता है, जिससे हिन्दी का आधुनिक उपन्यास साहित्य गौरवान्वित है। अब, इनके उपन्यासों का विशद् विवेचन और अध्ययन आगे के उपकरण में करेंगे। ●●

2

अज्ञेय के उपन्यास

वस्तु-विश्लेषण

जो रचनाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में आधुनिक संवेदनाओं को जिस हद तक स्वीकारता है, उसी अनुपात में आधुनिक संदर्भों में वह सफल भी माना जा सकता है। अज्ञेय के मतानुसार, 'आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उसका नयापन न तो विषय-वस्तु का नयापन है, न विधान का, न रूपाकार का, वह मूलत: जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। **यद्यपि वस्तु, शैली, विधान, कथा आदि का नयापन इसमें हो सकता है और होता भी है, तथापि उसकी आधुनिकता की कसौटी वह नहीं है, कसौटी उसका नया दृष्टिकोण ही है।**[1] इस प्रकार, इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक अथवा नये उपन्यास की कसौटी के बतौर अज्ञेय वस्तु, शैली, विधान तथा कथा आदि के साथ-साथ **दृष्टिकोण के नयापन** पर जोर देते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि 'वस्तु' की नवीनता के साथ ही वे विधान अथवा शिल्प के नयापन के भी हिमायती हैं। 'वस्तु' अथवा दृष्टि की नवीनता के कारण शिल्प की प्रायोगिक नव्यता स्वाभाविक है। अज्ञेय के उपन्यासों के अध्ययन-विवेचन के पूर्व इनका एक और उद्धरण देखना समीचीन होगा, जिसमें इनका नया औपन्यासिक दृष्टिकोण और भी अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। ये लिखते हैं : "नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया, क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गई। **उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया।** उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्तिमानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। 'चेतना-प्रवाह' ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण ('इन्टर्नल मोनोलॉग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं और आधु-

1. अज्ञेय—'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 79-80

निक उपन्यास में **मानसिक संघर्ष का विश्लेषण** विशिष्ट महत्व रखता है।"[1]

ऊपर के इन उद्धरणों से आधुनिक उपन्यासों के सम्बन्ध में अज्ञेय का निम्नांकित दृष्टिकोण सामने आता है, जो प्रतिमान के रूप में भी व्यक्त है :

1. आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, जिसकी कसौटी (पुराना नहीं वरन्) **नया दृष्टिकोण** है।
2. नये दृष्टिकोण के अनुरूप शिल्प-विधान में भी नयापन संभाव्य है।
3. परिवेश और ज्ञान के नयापन के कारण औपन्यासिक (अथवा कहें—सर्जनात्मक) संवेदना में भी तीव्रतर बदलाव आया है। किन्तु, सर्वाधिक प्रभाव और परिवर्तन आया—सिगमण्ड फ्रायड की मनोविश्लेषणात्मक मनीषा के साथ, जिसके द्वारा उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने-बूझने में पर्याप्त सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका।
4. नये दृष्टिकोण और नव ज्ञान-वैविध्य, विशेषकर, फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के ही प्रतिफलन हैं—आज के 'चेतना-प्रवाह' (स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस) अथवा 'स्वगत भाषण' (इन्टर्नल मोनोलॉग) के उपन्यास। अर्थात् आज के उपन्यास में नव-चिन्तन, दर्शन, प्रत्यय और विषय के अनुकूल शैल्पिक नवता, जैसे, चेतना-प्रवाह तथा स्वगत-भाषण आदि अनिवार्य रूप से अपेक्षित हैं।

अब हम देखेंगे कि अज्ञेय के उपन्यास उनकी अपनी ही कसौटी पर किस हद तक खरे उतरते हैं। अज्ञेय के अब तक केवल तीन उपन्यास प्रकाशित हैं :

1. (क) शेखर : एक जीवनी, भाग-1 (सन् 1940 ई०)।
   (ख) शेखर : एक जीवनी, भाग-2 (सन् 1944 ई०)।
2. नदी के द्वीप (सन् 1951 ई०) और
3. अपने-अपने अजनबी (सन् 1961 ई०)।

अज्ञेय के इन तीनों ही उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक प्रौढ़ि का सहजत: दर्शन होता है। इनमें मनोविश्लेषण की गहन क्षमता, सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध एवं कला के प्रति ईमानदारी व समर्पण का भाव है। अत: इनके उपन्यास सर्वत्र सृजन-प्रक्रिया के परिणाम मालूम होते हैं। इनके पात्र गढ़े गए अथवा निर्मित न होकर यथार्थ के धरातल पर जीते-जागते अनगढ़ मनुष्य की तरह प्रतीत होते हैं। इसलिए उनके अन्तर्सत्य, व्यक्ति की जीवनानुभूतियों से छनकर आते हुए लगते हैं

1. अज्ञेय—'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 79-80

अर्थात् उनके अनुभव जीवन के भोगे हुए सत्य की प्रतीति कराने वाले हैं; कल्पित अथवा ओढ़े हुए बिल्कुल नहीं। इलाचन्द्र जोशी ने मात्र पात्रों के माध्यम से मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का सायास परीक्षण किया, किन्तु अज्ञेय व्यक्ति-मानस की गहराई को मनोविज्ञान के आलोक में विश्लेषित करते हैं। इनके औपन्यासिक विश्लेषण में जीवन का यथार्थ बोध है, अनुभूति की सूक्ष्मता और तीव्रता है। इसका मूल कारण यह है कि इनके उपन्यास स्वयं इनके निजी व्यक्तित्व के अन्तर्सत्यों और अन्तःस्रोतों से उद्भूत हुए हैं। इसलिए इनके पात्र न केवल पात्र मात्र होते हैं, अपितु स्वयं वे अपने-आप होते हैं, उनका भोक्ता व्यक्तित्व होता है। इस प्रकार, अज्ञेय के उपन्यासों के पात्र सर्वथा जानदार मालूम होते हैं, जो एक ओर विद्रोह करते हैं और दूसरी ओर सृजन! उपन्यास-कार ने विद्रोह और सृजन करने वाले ऐसे ही व्यक्ति-मानस का चित्र मनोविज्ञान के 'कैनवास' पर आकलित किया है। इन चित्रों में अनुभवों की इतनी अधिक सघनता और जीवन्तता है कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सायास नहीं उभरते, अपितु वे उन अनुभवों के ही अंग बनकर प्रस्तुत होते हैं। अज्ञेय पर फ्रायड के मनो-विश्लेषण का बेहद प्रभाव लक्षित होता है, जिसे एकाधिक स्थलों पर उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है। किन्तु ये इलाचन्द्र जोशी की भाँति मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को—सिद्धान्तों के बतौर प्रस्तुत नहीं करते, प्रत्युत् उन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में जीवनानुभूतियों, बोधों और व्यक्ति की मनःस्थितियों का प्रस्तुती-करण करते हैं। अतः डॉ० नगेन्द्र[1] का यह अभिमत बिल्कुल सही है कि 'अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ्रायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आए···।'

'शेखर : एक जीवनी' : अज्ञेय का पहला उपन्यास है, जिसके प्रथम भाग का प्रकाशन सन् 1940 ई० तथा द्वितीय भाग का प्रकाशन सन् 1944 ई० में हुआ। जैसाकि शीर्षक से ही व्यञ्जित है : शेखर ही वह कथा-नायक है, जिसके चतुर्दिक घटनाओं का परिघटन होता है। किन्तु, ये घटनाएँ घटनाओं की विवृत्ति मात्र के लिए परिघटित नहीं होतीं, बल्कि उनके माध्यम से उपन्यासकार ने अपने कथा-नायक (पात्र) शेखर के अचेतन और अवचेतन मन (Sub-conscious & unconscious mind) को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार पात्र (अथवा पात्रों) के जीवन के अनगिन चित्रों का अंकन नहीं करता, वरन् अत्यल्प घटनाओं के द्वारा ही वह अपना काम चला लेता है। इसके लिए वह कुछ घन्टों, मिनटों अथवा क्षणों को ही पर्याप्त समझता है। सबसे पहले जेम्स ज्वायस (James Joyce) ने इसका प्रायोगिक संधान किया। सन् 1914 ई० में उसकी लघु कहानी 'डुब्लिनर्स'

1. 'विचार और विश्लेषण', पृ० 63

('Dubliners') तथा सन् 1916 ई० में आत्म-कथात्मक आख्यायिका 'ए पोर्ट्रेट ऑफ़ द आर्टिस्ट एज़ ए यंग मैन' (A Portrait of the Artist as a Young Man) प्रकाशित हुई। पुन: 1922 ई० में उसने 'युलीसिस' (Ulysses) नामक वृहद् उपन्यास लिखा, जिसमें ज्वायस ने अपने औपन्यासिक नायक के अन्तर्मन को चौबीस घंटे की घटनाओं के आधार पर चित्रित करने का प्रयास किया है।[1] इसी प्रकार 'वर्जीनिया वुल्फ' (Virginia Woolf) के उपन्यास 'मिसेज डालोवाई'[2] (Mrs. Dalloway) में मात्र तीन घंटे की कथा है। हेरिस मेकाय ने 'दे शूट हौर्सेज, डोन्ट दे' में केवल तीन मिनट की कथा का आयोजन किया है।

1. A.S. Collins ने अपनी पुस्तक 'English Literature of the 20th Century' में लिखा है :
   "This experiment.....appeared as Ulysses in Paris in 1922, and was hailed with amazement, some scornful, but much almost idolatrous. Tracing a not very attractive though very human 'hero' through some twenty-four hours of a Dublin day, Joyce portrayed the outer world through the inner workings of his hero's consciousness a symbolic phantasmagoria. .....now with strange effectiveness, now merely with obscure padantry, and again with puckish humour." (Page 138)
2. "She proceeded to try her hand at experiment. Jacolis Room was an uncertain start, Mrs. Dolloway was nearly successful and in 1927 to the Lighthouse showed her in full control of a teachnique which displayed the inner stream of consciousness, the spirit of life ebbing and flowing; symbolism too played its part in her treatment; a very sensitive artistry added a delight at times akin to poetic pleasure. A new kind of novel had been born in England, story in the old sense had largely disappeared, but the traditional English gift of vivid characterisation was supremely retained by means of the need technique."
   —A. S. Collins : 'English Literature of the 20th Century' (Page 139)

हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' इस दृष्टि से पहला और सशक्त प्रायोगिक उपन्यास कहा जा सकता है, जिसमें (उपन्यासकार के ही शब्दों में) 'घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए Vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न'[1] किया गया है। स्पष्ट है कि प्रस्तुत उपन्यास में घटनाएं प्रधान नहीं हैं, बल्कि महत्त्व है इसमें आगत प्रत्ययों अथवा व्यक्त दृष्टि-बिन्दुओं (विज़न) का। घटनाओं का आयोजन तो शेखर (और शशि) के मानसिक विश्लेषण मात्र के लिए किया गया है। वस्तुतः इस उपन्यास के प्रथम भाग में औपन्यासिक नायक शेखर के शैशव तथा कैशोर्य का अत्यन्त सूक्ष्म मनोविश्लेषण किया गया है तथा दूसरे भाग में उसके यौवन के विद्रोही व्यक्तित्व का रेखांकन। स्वयं अज्ञेय के विचार से शेखर का जीवनदर्शन 'स्वातंत्र्य की खोज'[2] है। उन्होंने लिखा है "शेखर की स्वातंत्र्य की खोज, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूल-स्रोत की खोज है।"[3]

मनोवैज्ञानिक तथ्य के मुताबिक व्यक्ति अपने परवर्त्ती एवं प्रौढ़ काल में जो भी कुछ बन पाता है उसकी संस्कारगत नींव उसके शैशव-काल में ही पड़ जाती है। इस दृष्टि से प्रारम्भिक बाल्य-काल के अध्ययन का बड़ा ही विशेष महत्त्व होता है।[4] उपन्यासकार अज्ञेय ने अवान्तर रूप से शेखर का—तीन वर्षीय शेखर का बालमनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। शिशु के मन में जो सहज संवेदनाएँ होती हैं, नयी बातों और वस्तुओं, जैसे, ईश्वर-सम्बन्धी, जन्म-सम्बन्धी तथा माता-पिता के यौन-प्रणय-व्यापार-सम्बन्धी जो जिज्ञासा एक

1. 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, भूमिका।
2-3. 'आत्मनेपद' पृ० 67
4. 'शिशु शायद जिस समय एक आकारहीन मांसपिण्ड भर होता है, तभी से वह एक अमिट छाप ग्रहण करने लगता है, जो उसको उत्पन्न करने वाली तात्कालिक शक्तियों की ही नहीं होती, वरन् उससे पहले हुई असंख्य घटनाओं और बाद में होने वाले असंख्य परिवर्तन की भी होती है···यह छाप पड़ जाती है और पड़ी रहती है, व्यक्त नहीं होती, हमारी चेतना में नहीं आती—तब तक जब तक कि किसी आकस्मिक प्रेरणा की चोट से किसी न समझ आने वाले आघात से वह स्पष्ट होकर लहर की तरह हमारे जीवन में नहीं फैल जाती...।"
—अज्ञेय : 'शेखर : एक जीवनी' प्र० भाग, संस्करण 1966, पृ० 48-49
एडलर ने लिखा है :
"The first great discovery was this : the most important determinants of the structure of the soul life are generated in the earliest days of childhood."
Introduction; "Understanding Human Nature" Page 5.

सामान्य शिशु में होती है, शेखर में उसी तीव्र जिज्ञासा-भाव का आवर्तन-प्रत्यावर्त्तन अहर्निश रूप से होता हुआ दिखाई पड़ता है। डॉ० देवराज उपाध्याय का कहना है कि "मालूम तो ऐसा ही होता है कि बाल मनोविज्ञान और चित्त विश्लेषणवादी बाल मनोविज्ञान को कथात्मक और सृजनात्मक रूप देने के प्रयत्न ही में शेखर का निर्माण हुआ है। × × × शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार ही (3 वर्ष) है, विशेषत: Malamia Klein (मलामिया क्लेन) के, जिन्होंने Fritz (फ्रिट्ज) का अध्ययन किया था।"[1]

शेखर की अवस्था ज्यों-ज्यों विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी अनुभूत्यात्मक जिजीविषा और भी व्यापक रूप धारण करती चलती है। वह प्रातिभ और प्रबुद्ध है। अत: प्रतिपल उसके मन में नये अनुभव के सत्य-असत्य को जानने-समझने और साक्षात्कार करने की अदम्य तड़प है। उसके मन में कभी तो ईश्वर-सम्बन्धी, कभी अस्तित्व-सम्बन्धी और कभी प्रणय एवं यौन-भाव से सम्बद्ध प्रश्न व्युत्पन्न होते रहते हैं। इन प्रश्नों और जिज्ञासाओं का समाधान सम्यक् रूप से उसके वास्तविक जीवन और जगत में नहीं हो पाता। सामाजिक एवं तथाकथित नैतिक रूढ़ियों के कारण उसकी ये जिज्ञासाएं कुछ समय के लिए दबा दी जाती हैं, जो बाद में मानसिक ग्रन्थियों में परिणत हो जाती हैं। शेखर उन्हीं मानसिक ग्रन्थियों के कारण कुण्ठित बन जाता है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने औपन्यासिक नायक शेखर—कहना चाहिए, शिशु शेखर की मानसिक स्थितियों तथा क्रियाओं का अत्यन्त सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में डॉ० देवराज उपाध्याय का यह परिकथन सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि "अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें शिशु-मानस को (फ्रायड के शब्दों में Pleasure Principle) आनंद-प्रधान जीवन की झाँकियों को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यों कहिये कि Reality Principle के सम्पर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रन्थियों को तथा उनके जीवनव्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है।"[2] पुन: वे आगे लिखते हैं : "फ्रायड ने पारिवारिक रोमांस का जो चित्र प्रस्तुत किया है, पिता का पुत्री के प्रति, भाई का बहिन के प्रति, माता का पुत्र के प्रति यौन-प्रणय-व्यापार को देख लेने की उत्सुकता होना और उसे पा लेने में सफल होना, इनकी मानसिक प्रति-

1. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 166-67
2. आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 162

क्रिया इत्यादि का सुन्दर और कलात्मक वर्णन शेखर से बढ़कर और कहाँ पाया जाता है ?"[1]

'शेखर : एक जीवनी' वस्तुत: जीवनीमूलक उपन्यास है, जिसमें एक ओर जीवन की वास्तविकता का साक्षात्कार होता है तो दूसरी ओर औपन्यासिक शिल्प एवं कल्पना के स्थापत्य का अनायास रूप से दर्शन होता है। अज्ञेय का कहना है कि 'तीव्रता' केवल कल्पना के सहारे नहीं मिल सकती, वह जीवन में ही मिल जाय, तो कल्पना से उसे संयत ही किया जा सकता है, पूर्वापर जामा ही पहनाया जा सकता है।'[2] तात्पर्य यह कि इसमें जीवन की तीव्र अनुभूति और संवेदना के साथ-साथ कल्पना की संयत शक्ति का समायोजन किया गया है। वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत कृति में महत्त्व कथा का नहीं है, बल्कि महत्त्व उस चरित्र का है, जिसकी कथा कही गई है।[3] स्पष्ट है कि इस संपूर्ण उपन्यास में चरित्र का ही प्राधान्य है। **अत: इसे चरित्र-प्रधान उपन्यास** की संज्ञा प्रदान करना अधिक संगत जान पड़ता है। इसका नायक—शेखर समग्रात्मक रूप से एक 'संश्लिष्ट चरित्र' है। वह 'टाइप' न होकर खासा एक व्यक्ति है। वह रचना की 'प्रतिलिपि' न होकर स्वयं अपने आपमें 'मूल रचना' की तरह 'वास्तविक' है। प्रकारान्तर से यों कहें कि उसका व्यक्तित्व आदर्श के ढाँचे में ढाला गया अथवा अनुकृत न होकर, खासा यथार्थपरक, अत: जीवन्त है। उपन्यासकार अज्ञेय ने परिचय के लहजे में जैसे लिखा है : "शेखर कोई बड़ा आदमी नहीं है, वह अच्छा भी आदमी नहीं है। लेकिन **वह मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से अपने को पहचानने की कोशिश कर रहा है।** वह अच्छा संगी नहीं भी हो सकता है, लेकिन उसके अन्त तक उसके साथ चलकर आपके उसके प्रति भाव कठोर नहीं होंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। **और, कौन जाने आज के युग में जब हम, आप सभी संश्लिष्ट चरित्र हैं, तब आप पाएं कि आप के भीतर भी कहीं पर एक शेखर है जो बड़ा नहीं, अच्छा भी नहीं, लेकिन जागरूक और स्वतन्त्र और ईमानदार है, घोर ईमानदार !**"[4]

शेखर सर्वथा एक व्यक्ति है। वस्तुत: उसकी वैयक्तिक चेतना में व्यक्ति-मन की चेतन-मनीषा अन्तर्भूत है। इस प्रकार, वह व्यक्ति-पात्र होते हुए भी व्यक्ति-मात्र की अन्तश्चेतना के प्रतीक के रूप में हमारे समक्ष प्रत्यक्ष होता है।

1. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 167
2. शेखर : एक जीवनी दूसरा भाग,, पांचवां संस्करण, पृ० 244
3. शेखर : एक जीवनी प्रथम भाग, भूमिका, पृ० 8
4. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, भूमिका पृ० 11

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का इस सम्बन्ध में यह परिकथन बिल्कुल ठीक है कि "इस चरित्र-प्रधान उपन्यास में शेखर के अनुभवों के जो वृत्तान्त आए हैं, वे वैयक्तिक होते हुए भी नितान्त व्यक्तिगत नहीं हैं और उनकी सामाजिकता में कोई संदेह नहीं प्रकट किया जा सकता।"[1] अज्ञेय ने स्वयं एक स्थल पर[2] लिखा है : "**शेखर : एक जीवनी**' में वैचारिक आस्था के अलावा एक तरह की भावनात्मक आस्था भी है; **इन्टैलेक्चुअल कनविक्शन ही नहीं, एक इमोशनल कनविक्शन** भी है। उपन्यास में भावना के स्तर पर भी 'शेखर' बंधा हुआ है।"

शेखर अपनी स्वानुभूतियों और जिज्ञासाओं के प्रति बेहद ईमानदार है। उसमें जिज्ञासा का समाधान न होकर, प्रश्नों की तीव्र आकुलता और तीखी तड़प है। इस प्रकार, 'शेखर : एक जीवनी' एक ऐसे व्यक्ति (शेखर) का जीवनीमूलक उपन्यास अथवा उसकी उपन्यासपरक जीवनी है, जो अपनी अनुभूतियों के प्रति बेहद ईमानदार और सशक्त है। शेखर सच्चे अर्थों में सत्यान्वेषी है। बाल-सुलभ जो भी जिज्ञासा उसकी चेतना में आती है, अपने ज्ञान और अनुभव के द्वारा वह उसका रहस्योद्घाटन करना चाहता है, किन्तु उसके प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते हैं। उनका समाधान या तो हो नहीं पाता और अगर होता भी है तो केवल बहलावे के लिए—ऊट-पटांग या बेतरतीब ढंग से। फलस्वरूप, उसका मन दमित और कुंठित हो जाता है। कालान्तर में ये दमित इच्छाएं और कुंठायें ही उसे विस्फोटक और विद्रोही बनाने के लिए उत्तरदायी होती हैं। शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व भी सर्वथा मनोविज्ञानसम्मत है। समझौतावादी तो वह बिल्कुल नहीं है। इसलिए परिवार और समाज से कटकर, सदैव वह अकेला रहता है।

उपन्यास का क्रांतिकारी व विद्रोही नायक—शेखर अपनी जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव में—फाँसी की प्रतीक्षारत मनःस्थिति में अपने अतीत का प्रत्यावलोकन करता है ताकि वह अपने तथा समाज के लिए जीवन की सिद्धि या अर्थ के नये सूत्रों को अन्वेषित कर सके—पा सके। उसके अतीत के प्रत्यावलोकन में उसका आत्मनिरीक्षण भी शामिल है। शेखर अपना यह आत्म-निरीक्षण अथवा आत्म-साक्षात्कार मानवता के संचित अनुभवों के प्रकाश में ईमानदारी से करने का प्रयास करता है। ध्यातव्य यह है कि उसका यह (आत्म-) निरीक्षण विज्ञान-सम्मत कार्य-कारण-परम्परा पर आधृत है। उपन्यासकार अज्ञेय के शब्दों में—"क्रांतिकारी अन्ततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं। लेकिन यह नियति-

1 हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ, पृ० 45
2. अपरोक्ष, पृ० 64

वाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनाने वाला कोरा भाग्यवाद नहीं होता, वह उन्हें अधिक निर्मम होकर कार्य करने की प्रेरणा देता है। × × × यदि यों कहा जाय कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर, जीवन की विज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है तो शायद सच्चाई के निकट होगा। मेरा ख्याल है कि आज के अधिकांश वैज्ञानिक भी कुछ इसी प्रकार के नियतिवादी हैं।

तो 'शेखर : एक जीवनी' के क्रांतिकारी नायक ने अपने जीवन में इसी नियति के सूत्र को पहचानने का प्रयत्न किया है। क्योंकि उसे पहचान लेना ही जीवन को समझ लेना है, उसकी पूर्ति पा लेना है।"[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि विज्ञान-संगत कार्य-कारण-परम्परा के रूप में व्यक्तित्व का निरीक्षण-परीक्षण तथा विश्लेषण ही 'शेखर' का प्रमुख उपजीव्य और अभीष्ट है तथा इसी के माध्यम से उसके जीवन के अर्थ, अभिप्राय एवं उसकी निष्पत्ति और सिद्धि की खोज करना उसका मूल लक्ष्य है।[2]

विवेच्य उपन्यास के शीर्षक से ही यह व्यंजित हो जाता है कि शेखर ही वह केन्द्रस्थ कथा-नायक है, जिसके चरित्र का विश्लेषण करना उपन्यासकार का अभीष्ट है। शेखर की आजन्म कथा अथवा यों कहें कि उसकी जन्म से लेकर जीवनान्त की आसन्न स्थिति की जीवनी इसमें प्रस्तुत की गई है। अतः सिद्ध है कि यह चरित्र-प्रधान उपन्यास होने के साथ ही साथ विश्लेषणात्मक उपन्यास है। शेखर मूलतः विद्रोही है। जीवन की चुनौतियों को स्वीकार कर निरन्तर वह अग्रसर होता चलता है। कहीं भी वह समझौतावादी नहीं है। वह अक्खड़ और अहंवादी है। किन्तु उसका अहंवाद निषेध्य अथवा त्याज्य न होकर सर्वथा विधेयात्मक है। ऐसा लगता है, जैसे सिद्धांतों के इस्पात का वह बना हुआ हो, जो टूट तो सकता है, किन्तु उसके झुकने का सवाल ही पैदा नहीं होता। ऐसी स्थिति में कभी-कभार तो उसे अकेलेपन का बोध होता है और कई बार उसे 'सफर' करना पड़ता है। जीवन की यातनाओं को वह बार-बार झेलता और भोगता है। सच पूछिए तो यातनाओं को झेलना और भोगना ही उसकी वास्तविक नियति है। संतुलित अहं से ग्रस्त शेखर इस बात से पूर्णतः परिचित हो चुका है कि 'अभिमान से भी बड़ा होता है दर्द'! वास्तविकता यह है कि इस 'दर्द' और 'यातना' के संदर्भ और आलोक में ही शेखर की सघन दृष्टि का निर्माण

1. शेखर : एक जीवनी—भूमिका, पृ० 8
2. शेखर : एक जीवनी—भाग 2, पृ० 183

होता है । अज्ञेय मूल रूप से अथवा कहें, अपने सम्पूर्ण अन्तर्स्वभाव से कवि हैं। अत: कवि की भावुक व आर्द्र संवेदनाओं से वे संपृक्त हैं। यही कारण है कि व्यक्तित्व की प्रामाणिकता तथा उसके मूल उत्स के रूप में वे 'वेदना' तत्त्व का चयन व ग्रहण करते हैं। 'शेखर' के निर्माण के आधार के रूप में भी, अत: इन्होंने 'वेदना' का ही प्रयोग किया है। 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका के बिल्कुल प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है : **"वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है···'शेखर' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए Vision को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न है।"** इस प्रकार, प्रस्तुत उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय वेदना को सिद्धांतत: एक प्रकार की प्रबल शक्ति मानते हैं। यह एक ऐसी प्रबल शक्ति है, जो व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक सिद्ध होती है। एक अन्य स्थल पर[1] उन्होंने वेदना अथवा दु:ख को दर्शन के रूप में यूं उपस्थापित किया है :

'दु:ख सबको माँजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रक्खें।'

ठीक इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' हर बार वेदना के महत्त्व को स्वीकारती हुई कहती है[2] :

'तुमने एक ही बार वेदना में मुझे जना था, माँ
पर मैं बार-बार अपने को जनता हूँ
और मरता हूँ
पुन: जनता हूँ और पुन: मरता हूँ
और फिर जनता हूँ
क्योंकि वेदना में मैं अपनी माँ हूँ।'

शेखर अहंवादी है। पर, उसका अहं सन्तुलित और स्वाभाविक है। वास्तव में अहं से ग्रस्त दीखने वाला शेखर वेदनावादी है और ठीक उसी की भांति 'शशि' भी अपने को तपाकर पाया हुआ कंचन[3] है। वेदना ही वस्तुत: शेखर को जीवन-

1. हरी घास पर क्षण भर, पृ० 55
2. अज्ञेय : 'नदी के द्वीप' पृ० 107
3. शेखर : एक जीवनी, भाग दो, प० 215

दृष्टि प्रदान करती है। अर्थात् उसका सम्पूर्ण संश्लिष्ट व्यक्तित्व वेदना-जन्य है। उसके विचार से 'दुःख की छाया एक तरह की तपस्या है—उससे आत्मा शुद्ध होती है।'[1]

शेखर ने अपने अनुभव के आधार पर यह सीखा और जाना है कि अहन्ता, भय और सेक्स—ये तीन महती प्रेरणाएँ हैं, जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं।[2] ये प्रेरणाएँ वस्तुतः नैसर्गिक और जन्मजात हैं। अज्ञेय के अनुसार, 'मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं। शेखर इन तीनों ही मूल प्रेरणाओं के परिप्रेक्ष्य में अपने जीवन की तमाम घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण करता-कराता है। वह अहंवादी है। यह अहं-भाव प्रारम्भ से ही उसके अन्तरंग जीवन का स्वभाव और अंग बन चुका है। बचपन में—तीन वर्ष की अवस्था में वह लेटरबॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट अपने विजयी घोड़े पर बैठकर संसार को ललकार रहा है। वह संसार से एक लेटर बॉक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है और संसार की क्षुद्रता पर हंसता तथा मज़ाक उड़ाता है। डाकिये के मना करने पर, प्रतिशोध के रूप में वह उस डाकिए के पाँव कुचलते हुए भाग खड़ा होता है तथा अपने आपमें विजय का अनुभव करता है। वस्तुतः यह अहंता अथवा **अहं का प्रतीक है।**

अहं के बाद उसका साक्षात्कार **भय** से होता है, जब वह अजायबघर में फिरते हुए नकली बाघ को देखकर भाग खड़ा होता है। फिर, 'वह डर उस समय दब गया, किन्तु उसने शिशु के मन में घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे में अंधेरा है तब तो वह अन्धकार एक नहीं, असंख्य बाघों से सजीव हो उठता, एक-से-एक खूंखार···! कालांतर में उसने अपने अनुभव से जाना कि 'डर डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएं हैं, केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।'[3] इस आधार पर अब उसका ऐसा विश्वास बन गया है कि 'जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो। उसकी इस मान्यता और धारणा ने उसे (उद्धत, विध्वंसक और हिंस्र तो नहीं, किन्तु) पूर्णतः विद्रोही (अवश्य) बना दिया है।

तीसरी स्मृति : उसमें निहित यौन-भाव ('सेक्स') से सम्बद्ध है। फ्रायड के

1. वही, पृ० 32
2. शेखर : एक जीवनी, भाग एक, पृ० 49
3. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, पृ० 51-52

यौन-सिद्धांत के अनुरूप ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास होता है । उसके सम्पूर्ण जीवन में किसी-न-किसी प्रकार यौन-भाव व्याप्त है, जिससे सम्बद्ध एवं उद्भूत समस्याओं तथा मनोभावों का संश्लेषण-विश्लेषण अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है। जहां कहीं शेखर किसी अनुचित अथवा वर्जित दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन सेक्स-भाव से आंदोलित हो उठता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य, विशेषकर बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओं के प्रति अधिकाधिक मात्रा में जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा में निषेध अथवा वर्जनाएँ होती हैं, उसी अनुपात में बच्चे के मन में उस रहस्य की गहराई में प्रविष्ट होने की तीव्र उत्कण्ठा भी जाग्रत होती है। शेखर पर यह मनोवैज्ञानिक सिद्धांत शत-प्रतिशत लागू होता है। मध्यवर्गीय परिवारों की ही भाँति इसके (शेखर के) परिवार में भी यौन-सम्बन्धों की चर्चा निषिद्ध है। अतः उसका यौन-भाव कुंठित हो जाता है। फिर बाद में चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। पहले भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहंवादी है। वस्तुतः उसका यौन-भाव भी उसके अहं भाव का अंग बनकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पुरुषों से सम्मान की आकाँक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियों से प्रणय और प्यार। इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यातव्य यह है कि वह केवल आदान चाहता है; प्रदान नहीं। उसकी स्पष्ट मान्यता है : "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए—पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं।"[1] जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-संबंध स्थापित होता है, उस पर सम्पूर्ण रूप से वह अपना आधिपत्य या कहें, एकाधिकार चाहता है। एकाधिकार की उसकी प्रवृत्ति भी सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है।

शेखर के यौन-भाव ('सेक्स') का विकास तीन बिन्दुओं पर दिखाई पड़ता है : आत्मरति, समलिंगी रति तथा विपरीत लिंगी रति। उसमें आत्मरति मुख्यतः वहाँ दिखाई पड़ती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म' पक्ष प्रबल होकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर, अपनी पूजा करवाना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जागृत होती है—अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। कुमार से

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण सन् 1966 ई०, पृ 144

वह कहता है : 'कुमार बताओ, तुम मुझे अपने से बड़े क्यों नहीं लगते ? मुझे क्यों लगता है कि तुम छोटे हो, और मैं जैसे तुम्हारा संरक्षक, तुम्हारा गार्डियन (दैवी रक्षक) हूँ, और तुम मुझ पर निर्भर करते हो ?'[1] बाद में शेखर उस पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता है, जिसकी परिणति होती है—शारीरिक हाव-भाव, अंग-चेष्टा या चुम्बन आदि में। वह कहता है—'कुमार, यदि तुम मेरे अतिरिक्त और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूंगा।···' (इतना ही नहीं) शेखर ने कुमार को अपनी ओर खींचकर उसका मुँह चूम लिया। लेकिन साथ ही उसके मन में एक शंका हुई—स्वर में यह भय क्यों ? और उसे यह भी लगा कि जो कुछ उसकी ओर से है, दूसरी ओर से वह नहीं है, जैसे झील में उसका प्रतिबिम्ब मात्र, जिसमें कम्पन है, लेकिन कम्पन जीवन का नहीं माया का।"[2]

शेखर के हृदय में विपरीत लिंगी रति के भावों का अनेकशः उद्रेक उन समस्त नारियों के सन्दर्भ में होता है, जो कोई उसके संपर्क में आती है : वह चाहे सरस्वती हो, चाहे शीला, शारदा या शान्ति हो, या चाहे शशि हो। यह सब उसके भावों का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और 'सहज विकास' का नैसर्गिक व स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी सगी बड़ी बहन सरस्वती उसे सरस, माँ, मधुर और मौसेरी बहन शशि सुन्दर, उन्मद तथा उसके व्यक्तित्व की पूरक प्रतीत होती है।

उपन्यासकार अज्ञेय ने शेखर में क्रान्ति अथवा विद्रोह के उपकरण के रूप में **'विराट् व्यापक प्रेम की सामर्थ्य'** तथा **'एक तटस्थ सात्त्विक घृणा की क्षमता'**[3] को विशेष उपादेय और सक्रिय माना है। लेखक का यह विचार सर्वथा मनोविज्ञानसम्मत है कि **प्रेम और घृणा 'कभी अलग नहीं किए जा सकते; जहाँ प्रेम जितना उग्र होता है, वहाँ वैसी ही तीखी घृणा भी होती है।'**[4] इन दोनों विशिष्ट प्रवृत्तियों के आसंग से ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास, प्रत्येक स्तर पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। लेखक के अनुसार, सच तो बल्कि यह है कि 'शेखर के जीवन को घृणा और वासना—इन्हीं दो शक्तियों ने सम्भव बनाया—घृणा ने ही उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ खोकर भी संसार को ललकारे और

1. शेखर : एक जीवनी प्रथम भाग, संस्करण सन् 1966, पृ० 201-202
2. वही, पृ० 203
3. शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 29
4. वही, पृ० 31

वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।'[1]

शेखर के व्यक्तित्व का विकास—प्रेम, घृणा और वासना—तीन बिन्दुओं पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस प्रकार, उसका व्यक्तित्व त्रिकोणात्मक है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमशः उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और (सबसे बढ़कर) शशि आदि के संदर्भ में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है। शेखर के मन में अपनी माँ के प्रति घृणा का भाव अत्यन्त सघन और तीव्र है। इसका मूल कारण यह है कि उसे अपनी माँ की ओर से अपेक्षित स्नेह न मिलकर, बार-बार डांट-फटकार और अविश्वास का प्रस्ताव ही मिलता है। जो स्नेह उसे मिलता है, वह अनुपातत: सामान्य कोटि का है, किंतु उसकी आकांक्षा सदैव विशिष्ट स्नेह-प्राप्ति की रही है। स्नेह-वैशिष्ट्य के अभाव में उसका मन माँ के प्रति विमुख और विद्रोही हो जाता है। फलत: चेतन रूप से वह अपनी माँ को आदर-भाव नहीं प्रदान कर पाता। उसके विचार में, 'पिता आवेश में आततायी और माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय है। पिता की क्रोध-वर्षा के बावजूद वह सखा-भाव का अनुबोधन करता है। किन्तु मां जब कुछ नहीं कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है।[2] पिटने को तो अनेक बार वह (अपनी माँ के साथ ही साथ) अपने पिता से भी पिटता है। इसके बावजूद वह उन्हें 'पूजता', जबकि बार-बार वह अपनी माँ के प्रति विद्रोहभाव व्यक्त करता है। इन कारणों का स्पष्टीकरण लेखक ने इन शब्दों में किया है : "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं, और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या, असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी में मिलेंगे सीधे-सादे शांत आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमें कोई खास बुराई नहीं है, जो साधारणतया प्रसन्न और संतुष्ट हैं, जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं; दूसरी में मिलेंगे प्रतिभावान् लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रान्तिकारी, डाकू, जुआरी, पतित-से-पतित मानवता के प्रेत··· अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं है, वे सुलग नहीं सकते, फट ही सकते हैं···। शेखर साधारण नहीं था। और वह अपने पिता का उपासक था।[3] वस्तुत: यही वह मूल भाव है, जिसके धरातल पर उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

1. शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 121
2. वही, पृ० 181
3. वही, पृ० 123-124

शेखर सामान्य व्यक्ति से ऊपर और विशिष्ट दिखाई पड़ता है तथा निरन्तर विशिष्टता की ओर ही प्रयाण करता चलता है।

शेखर के मन में जो भाव उसकी प्रारम्भिक अवस्था में जिस रूप में बन चुके हैं, वे ही आगे चलकर उसके अन्दर संस्कार के रूप में सक्रिय होते हैं। शुरू में वह अपनी माँ से घृणा करता है और बाद में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर विदेशीमात्र से घृणा करने लग जाता है। कालान्तर में, उसकी घृणा का विस्तार विदेशी कपड़ों तथा विदेशी भाषा तक हो जाता है। व्यक्तिवादी शेखर में सामाजिक दाय-बोध का अभाव न होकर, पर्याप्त मात्रा में सहृदयता, मानवीय सहानुभूति तथा संवेदनशीलता के तत्त्व संश्लिष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। बचपन में मनोरंजन के लिए पिंजरे में बन्द पक्षियों को उड़ाकर उनको उन्मुक्त करने में उसे संतोष होता है। निम्न जातीय विधवा के यहाँ शेखर को जाने तथा उसकी बेटी फूलाँ के साथ खेलने-खाने की मनाही की जाती है। किन्तु, उस मनाही के बावजूद उसका मन-प्राण सहानुभूति के भावों से आप्लावित हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शेखर दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया···तथा फूलाँ भी उसके लिए एक पद-दलित देवी-सी हो गई।'[1] कॉलेज-जीवन में वह मालाबार प्रदेश की यात्रा मात्र इसलिए करता है ताकि ब्राह्मणों द्वारा शोषित अछूतों के शोषण का अनुभव प्राप्त कर सके। वहाँ एक मरणा-सन्न नारी को पीठ पर लादकर वह अस्पताल पहुंचाता है तथा एक असहाय महिला को गाड़ी पर चढ़ाने में सहायता करता है, जिसके लिए उसे एक दूसरे व्यक्ति से झगड़ना भी पड़ता है। आगे चलकर असहाय-निर्धन-निरक्षर बालकों को पढ़ाने के लिए वह रात्रि पाठशाला की स्थापना करता तथा उसमें स्वयं पढ़ाता है। घोर अहंवादी और विद्रोही प्रतीत होने वाला शेखर 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय, भीगी पलकों से देखता हुआ अपनी संवेदनशील मनोवृत्ति का परिचय देता है। शेखर में प्रेम और वासना का उद्रेक अत्यन्त तीव्र रूप में होता है। पिता के प्रति उसके मन में प्रेम और आदर का भाव सुरक्षित है, जिसकी परिणति होती है—पितृ पूजा में।

प्रेम और वासना : जीवन के दो ऐसे निर्णायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः जीवन-यात्रा के वे ही पाथेय हैं, जिनका जीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारम्भ में उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है किन्तु बाद में (वह प्रेम) नैतिक समस्या का रूप ले लेता है। वह

1. शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ 63

कहता हैं : 'सभी प्यार--प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है···कितने सूत्र —पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या से उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं·· मूल समस्या सामंजस्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है। वह विचलन की समस्या है क्योंकि यह व्यापक है और मौलिक जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर !—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है···तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामंजस्य फिर न खोज निकाला जाय·· समस्या है और साधना है, तपस्या है··।' स्पष्ट है कि प्रेम दो इकाइयों तक सीमित न होकर, एक व्यापक सामंजस्य है, जिसकी सार्थकता दिखाई पड़ती है—शेखर के व्यक्तित्व के संदर्भ में। इस दृष्टि से उसका आत्म-विशेषण द्रष्टव्य है : "मेरे व्यक्तिगत जीवन में मानव के समष्टिगत जीवन का भी इतना अंश है कि समष्टि उसे समझ सके और उसमें अपने जीवन की झलकपा सके। मेरे जीवन में भी व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेष्य घोल है, जिसके बिना कला नहीं, और जिसके बिना फलतः उपन्यास नहीं।" विचारक-उपन्यासकार अज्ञेय नये मूल्यों के संदर्भ में 'सेक्स' की नयी परिभाषा गढ़ते हैं। इसे ('सेक्स' को) न तो वे निरा शरीर-सम्बन्धी मानते हैं और न केवल सामाजिक बन्धन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' ('डाइनैमिक कम्यूनिकेशन') के रूप में ग्रहण करते हैं।[1] आगे अपने इस मंतव्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वे डी० एच० लॉरेन्स की इस पंक्ति को उद्धृत करते हैं—मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज़ रिलेशनशिप इज़ फिलियल, दैट इज़, इट इज इनसेस्ट' !

प्रेम और वासना में आत्यन्तिक नैकट्य होता है। फ्रायड के ('प्लेजर थियॉरी, के) अनुसार बिना वासना ('सेक्स') के प्रेम का अस्तित्व संभव नहीं। प्रत्येक प्रेम में, वासना का किसी-न-किसी रूप और मात्रा में होना निश्चितप्राय है। फ्रायड के इस सिद्धान्त को क़तई नकारा नहीं जा सकता। वस्तुतः जिसे हम सात्विक प्रेम की संज्ञा देते हैं, वास्तव में वह भी 'वासना' से सर्वथा कटा हुआ नहीं होता, अपितु इसी का उदात्त रूप ('सब्लाइम्ड फॉर्म') होता है। बहरहाल, 'शेखर' के संदर्भ में यह सिद्धांत शत-प्रतिशत सही प्रतीत होता है। विद्रोही दीखने वाला शेखर दरअसल, वासना अथवा यौन-भाव ('सेक्स') की ओर अत्यधिक मात्रा में प्रवृत्त है। विद्रोही होना उसकी जीवन-प्रणाली है, जो उसके अतृप्त यौन-भाव ('सेक्स') की पूर्ति में सहायक होती है। जहाँ कहीं उसकी काम-भावना बाधित होती है, वहाँ स्वभावतः और सहजतः, वह

1. अज्ञेय : 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 79

विद्रोह कर उठता है, किन्तु ध्यातव्य यह है कि और चाहे जिस किसी के विरुद्ध वह विद्रोह कर ले, किन्तु अपने सम्पर्क में आने वाली तमाम नारियों—चाहे वह सरस्वती हो या शशि, शारदा हो अथवा शान्ति—सबके प्रति वह घोर मैत्री-पूर्ण आचरण करता है। उसकी सगी बहिन सरस्वती उसके लिए पहले 'सरस्वती' से 'बहन' और फिर 'बहन' से 'सरस' बन जाती है। शेखर के मन में 'सरस्वती' के प्रति जो ऐक्य भाव है, वह अत्यन्त उन्मद और तीव्र है। उसे '(शेखर को) लगता था कि जिस प्रकार जो वांछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करने वाला है, उसका पूँजी-भूत रूप सरस्वती है।'[1] शेखर के मनमें सरस्वती के प्रति अनुभूति की तीखी ऐन्द्रिकता का प्रवेग है: प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष ही सही। एक दिन 'शेखर ने अपने दोनों हाथों से बड़े जोर से उसका (सरस्वती का) हाथ पकड़ कर अपनी आँखों पर दबा लिया।'[2] जिससे उसे सुख की अनुभूति हुई, जो वास्तव में उसकी यौन-भावना की ही परोक्ष संतृप्ति होती है। शेखर, जहाँ शारदा की आँखें मूँद कर उसके रूखे केशों को सूँघता है, वहाँ भी प्रकारान्तर से, उसकी दमित यौन-भावना ही तुष्ट होती है, न कि अहं-भावना। शान्ति के कण्ठ के स्पर्श-मात्र से वह संतुष्ट हो जाता है। उसके जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली है शशि। वस्तुतः वही वह विशिष्ट केन्द्र बिन्दु है, जिसके चहुँ ओर शेखर का व्यक्तित्व अनवरत रूप से परिचालित होता हुआ दिखाई पड़ता है शेखर इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार करता है: 'मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे (शशि के) होने को लेकर है।' शशि रमेश की परिणीता पत्नी है और शेखर की प्रेयसी। रिश्ते में वह शेखर की मौसेरी बहन है, फिर भी अपने हृदय का सारा संचित प्यार शेखर के लिए उड़ेल देती है। इसके लिए उसे क्या सब नहीं सहना और करना पड़ा? घर-बार छोड़ा, पति का त्याग किया और यहाँ तक कि शेखर के निर्माण के खातिर स्वयं का उसने विसर्जन किया। 'शशि, तुम क्या हो?'—शेखर के इस प्रश्न के उत्तर में वह कहती है—'···मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर, तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।···

1. शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 143
2. वही, पृ० 147

शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा कुछ मत समझो; क्योंकि मैं—अब—कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ—और 'अमूर्त' होकर मैं—तुम्हारा अपना—आप हूं जिसे तुम नाम नहीं दोगे।" शशि और शेखर का प्रेम-विश्लेषण करते हुए एक आलोचक ने इसे 'इन्सैस्ट बैरियर' के नाम से अभिहित किया है।[2] 'इन्सैस्ट बैरियर के कारण वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह अचेतन में पहुँच जाती है और चेतन में वे दोनों भाई-बहिन बने रहते हैं—पवित्र रहते हैं किन्तु अचेतन में उनकी वासना निरन्तर संघर्ष करती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों में से चैन किसी को नहीं मिलता। यह फ्रायड का मनो-विश्लेषण सिद्धान्त है।[3]

इस प्रकार, ऊपर के विवेचन-विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ही वह मूल संवेदना है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आन्दोलित और स्थापित करती है। द्रष्टा शेखर का, भोक्ता शेखर के सम्बन्ध में भी यही अभिमत है कि 'यदि स्त्रियाँ न होतीं, तो शायद वह जी नहीं सकता।' इससे निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि प्रणय ही वह मूल प्रवृत्ति है, जो शेखर को विभिन्न धरातलों से गुजरने को अनुप्रेरित करती है। प्रेमी सर्जक-रचनाकार तो होता ही है, योद्धा और साहसी भी कम नहीं होता। वस्तुत: अहं से ग्रस्त दीखने वाला शेखर अनन्य प्रेमी अथवा कहें; 'रोमैन्टिक विद्रोही' है, जिसका व्यक्तित्व एकांगी न होकर सर्वथा संश्लिष्ट है। इस आधार पर, **'शेखर : एक जीवनी' को 'रोमैन्टिक विद्रोह' का उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त तथा अर्थ-संगत जान पड़ता है।**

1. शेखर : एक जीवनी, भाग-2, पृ० 166
2. (क) डॉ० मक्खनलाल शर्मा : 'हिन्दी-उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ० 169
   (ख) अज्ञेय : 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृष्य, पृ 79
3. "An incestuous love strikes repression, the emotional and the sexual components are separated, and the only emotional component persists in consciousness owing to its apparent desexualization. The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re-established."

   ('Psycho-Analytical Method and the Doctrine of Freud, Vol. I : Dalbez, p. 134).

नदी के द्वीप (1951)

'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। 'शेखर : एक जीवनी' की भाँति ही इसका भी उपजीव्य और स्वर मनोविश्लेषणात्मक है। 'शेखर : एक जीवनी' शेखर (व्यक्ति) का जीवनीमूलक उपन्यास है जिसमें 'रोमैन्टिक विद्रोह' को बड़ी निपुणता से अभिव्यक्त किया गया है। ठीक उसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' में भी व्यक्ति-नायक—भुवन के प्रणय-व्यापार तथा यौन-भाव को विश्लेषित कर, उसके माध्यम से व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के प्रस्तुतीकरण का प्रयास किया गया है। अतः इसे भी प्रणय-मूलक अथवा 'रोमैन्टिक' उपन्यास की ही संज्ञा प्रदान करना युक्ति-संगत प्रतीत होता है

अज्ञेय के इस मन्तव्य के साथ आसानी से सहमत हुआ जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। घटना उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है, पर घटना-प्रधान उपन्यास वह नहीं है। शेखर की तरह वह परिस्थितियों में विकसित होते हुए एक व्यक्ति का चित्र है और उस चित्र के निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना भी नहीं है। वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है"[1] इसमें मुख्य रूप से भुवन के चरित्र को उपन्यासकार ने विश्लेषित व उद्घाटित किया है। भुवन के अलावा—रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव तीन और भी मुख्य पात्र हैं। इन्हीं चार व्यक्ति-चरित्रों (Individual Characters) का उद्घाटन और सम्यक् विश्लेषण उपन्यासकार अज्ञेय का अभीष्ट तथा विवेच्य उपन्यास का उपजीव्य है। डॉ० देवराज के शब्दों में कहा जा सकता है कि "वर्ण्यजगत, परिवेश अथवा पात्र की प्रत्येक विशेषता को यह कलाकार भिन्न, विशिष्ट रूप में रखता है। उनकी प्रत्येक अनुभूति प्रत्येक क्षण व्यक्तित्व-सम्पन्न है।"[2]

विवेच्य उपन्यास का शीर्षक प्रतीकात्मक, अर्थ-संगत एवं प्रतिपाद्य-बोधक है। प्रस्तुत प्रतीक-रूपक का प्रयोग प्रमुखतः वैचारिक अर्थ-व्यंजनाओं के निमित्त ही हुआ है। उदाहरण के बतौर कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

(क) 'हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं, उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी, भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी···।'[3]

1. अज्ञेय : 'आत्मनेपद', पृ० 72
2. डॉ० देवराज : 'आधुनिक समीक्षा', पृ० 139
3. 'नदी के द्वीप', पृ० 14

(ख) '·····काल का प्रवाह नहीं, क्षण और क्षण और क्षण·····क्षण सनातन है ····छोटे-छोटे ओएसिस ····सम्पृक्त क्षण····· नदी के द्वीप·····जो काल-परम्परा नहीं मानता, तभी वह परिणामों के प्रति इतनी उपेक्षा रख सकता है—एक तरह से अनुत्तरदायी है····· पर इससे क्या ? उत्तर माँगने वाला कोई दूसरा है ही कौन ? मैं ही तो मुझसे उत्तर माँग सकता हूँ ? और अगर मैं अपने सामने अनुत्तरदायी हूँ, तो उसका फल मैं भोगूँगा—यानी अपने अनुत्तरदायित्व का उत्तरदायी मैं हूँ···।

क्या यह—परसों और कल और आज—वैसा ही एक द्वीप है—सम्पृक्त क्षणों का द्वीप—काल-प्रवाहिनी में अटका हुआ एक अलग परम्परामुक्त खण्ड—जैसे रेखा कहती है ? परसों, कल, आज फिर महाशून्य—नहीं, आज, फिर दूसरा आज, फिर आज, तब महाशून्य ।"[1]

इसी प्रकार, एक और भी उद्धरण देखा जा सकता है, जो उपन्यास के वस्तु-तत्त्व पर प्रकाश डालने के साथ-ही-साथ इसके उद्देश्य को भी व्यञ्जित करता है : "हम जीवन की नदी के अलग-अलग द्वीप हैं—ऐसे द्वीप स्थिर नहीं होते, नदी निरन्तर उनका भाग्य गढ़ती चलती है, द्वीप अलग-अलग होकर भी निरन्तर घुलते और पुनः बनते रहते हैं—नया घोल, नये अणुओं का मिश्रण, नयी तलछट, एक स्थान से मिटकर दूसरे स्थान पर जमते हुए नये द्वीप ।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपन्यासकार अज्ञेय की चिन्तन और जीवन-दृष्टि मूलतः व्यक्तिनिष्ठ है । यहाँ 'द्वीप-सत्य' 'व्यक्ति-सत्य' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है । द्वीप की ऐकान्तिकता, सामाजिक भीड़-भाड़ से व्यक्ति की संवेदनगत चेतना के अलगाव का अर्थापन प्रस्तुत करती है ।

अज्ञेय ने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में पात्रों के चरित्र को ही उद्घाटित व विश्लेषित करने का उपक्रम किया है, वह भी एक इकाई अथवा कहें—समाज से विशृंखलित इकाई—के रूप में ही किया है; वह चाहे शेखर हो या भुवन । भुवन खासा एक व्यक्ति-चरित्र है, जिसके माध्यम से व्यक्ति की आन्तरिक गुत्थियों व समस्याओं को सम्पूर्ण उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । अज्ञेय के ही शब्दों में—"नदी के द्वीप" समाज के जीवन का चित्र नहीं है, एक अंग के जीवन का है : पात्र साधारण जन नहीं हैं, एक वर्ग के व्यक्ति हैं और वह वर्ग भी संख्या की दृष्टि से अप्रधान ही है; लेकिन कसौटी मेरी समझ में यह होनी चाहिए कि क्या वह जिस भी वर्ग का चित्रण है, उसका सच्चा चित्र है ? क्या

1. 'नदी के द्वीप', पृ० 130

उस वर्ग में ऐसे लोग होते हैं, उनका जीवन ऐसा जीवन होता है, संवेदनाएँ ऐसी संवेदनाएँ होती हैं ? अगर हाँ, तो उपन्यास सच्चा और प्रामाणिक है, और उसके चरित्र भी वास्तविक और सच्चे हैं···।"[1]

'शेखर : एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' का भी मुख्य स्वर मनोविश्लेषणपरक तथा प्रणयमूलक है। अहं, यौन (सेक्स) तथा प्रेम और वासना के भावों से जैसे शेखर सम्पृक्त है, वैसे ही 'नदी के द्वीप' का चरितनायक —भुवन भी वैसी ही संवेदनशीलता, यौनभावना तथा अहम्मन्यता से ग्रस्त है। इसके दो कारण माने जा सकते हैं : पहला कारण तो उपन्यासकार अज्ञेय के दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। चूंकि उनका चिन्तन व्यष्टि के मनोवैज्ञानिक धरातल पर आधृत है, इसलिए सर्वत्र और सदैव ये व्यक्ति के यथार्थ पर ही सम्पूर्णत: बल देते हैं। दूसरी बात, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; वह कि 'नदी के द्वीप' पृथक् और स्वतन्त्र उपन्यास होते हुए भी (अवान्तर एवं अन्तरिम् रूप से) वस्तुत: 'शेखर : एक जीवनी' का ही विकास अथवा प्रकारान्तर से प्रस्तावित तीसरा भाग है।[2] अत: 'शेखर' की समस्त सम्भावनाएं पूंजीभूत होकर 'नदी के द्वीप' में परिलक्षित होती हैं।

विवेच्य उपन्यास में घटना अत्यल्प सूक्ष्म किन्तु पात्रों (चरित्रों) की मन:-स्थितियों की विश्लेषणात्मक रेखाएँ अथोर हैं। इनमें मुख्य पात्र केवल चार हैं : भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव। यदि और गहराई तथा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो भुवन और रेखा,[3] विशेषत: भुवन ही विशिष्ट पात्र के रूप में सम्पूर्ण उपन्यास की परिधि में घूमता हुआ दिखाई पड़ता है। वैज्ञानिक होने के बावजूद वह अत्यन्त भावुक, संवेदनशील, अत: कला-रुचि-सम्पन्न है। रेखा सुशिक्षित तथा

1. अज्ञेय : 'आत्मनेपद', पृ० 73
2. (क) श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही मत है। वे भी 'नदी के द्वीप' को 'शेखर' का ही परिशिष्ट व प्रस्तावित तीसरा भाग मानने के पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं।
(हिन्दी नवलेखन, पृ० 99)
(ख) डॉ० इन्द्रनाथ मदान का अभिमत भी ठीक इससे मिलता-जुलता है कि उनके विचार से—"रेखा शशि का विकसित रूप है और भुवन शेखर का परिशिष्ट रूप, जो शेखर के अभाव की पूरा करता है।"
(आज का हिन्दी उपन्यास, पृ० 51)
3. स्वयं उपन्यासकार अज्ञेय का कहना है कि "रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है।···मेरी दृष्टि में वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है।"
—'आत्मनेपद', पृ० 83

संवेदनशील आधुनिका नारी है, जिसका अपने वैधानिक पति : हेमेन्द्र के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। मूल रूप से वह यौन-भाव से पीड़ित है, जो प्रारम्भ में मुवन के प्रति प्रवृत्त और अर्पित होती है और फिर बाद में एक अन्य डॉक्टर: रमेशचन्द्र के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। गौरा पहले मुवन की शिष्या और पुन: आगे चलकर उसकी प्रेमिका बन जाती है। इस प्रकार, उसके अन्दर भी अतृप्त काम-वासना का ही प्राबल्य है। चौथा पात्र है—चन्द्रमाधव। वह भी मुख्यत: यौन-भाव से ही ग्रस्त अथवा पीड़ित व्यक्ति-चरित्र है। अपनी पत्नी से असंतुष्ट होकर वह दुराव पालता तथा रेखा व गौरा से अपनी अतृप्त वासना वा काम-भावना की तुष्टि का निरन्तर प्रयास करता है। इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से तथ्य यह हाथ लगता है कि आलोच्य उपन्यास में सर्वत्र यौन-भाव (उपन्यास का असल में यही केन्द्रबिन्दु भी है) तथा उससे उद्भूत रुग्ण कुण्ठाओं, जटिल संवेदनाओं तथा दर्द की आकुल अनुभूतियों एवं मन:स्थिति को समग्रत: विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

'नदी के द्वीप' में कथात्मक संघटना कम; चारित्रिक विश्लेषण अधिक है। ये चरित्र आरोपित न होकर खासा मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिए कहीं भी और कभी भी वे अपरिचित और अनजान बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं होते। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में पात्रों अथवा चरित्रों के अन्तर्भावों का विश्लेषण मनोविज्ञान की सैद्धान्तिक प्रयोगशाला में रखकर किया है। यही कारण है कि इस उपन्यास के शिल्प-विधान में भी अपेक्षाकृत अधुनातन मनोवैज्ञानिक विधियों; जैसे—पूर्व-दीप्ति अथवा प्रत्यक् दर्शन-प्रणाली (Flash back Style), चेतना प्रवाहांकन (Stream of Consciousness) एवं अन्तर्चित्रों (Inside Views) आदि का प्रायोगिक संधान किया गया है। इस प्रकार 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने मनोविज्ञान का प्रयोग भाव और शिल्प—दोनों ही रूपों में सफलता के साथ किया है। अस्तु, इसकी मनोवैज्ञानिकता निर्विवाद है। डॉ० देवराज उपाध्याय लिखते हैं : "जेम्स ज्वायस की उपन्यास-कला की विशेष विवेचना करते हुए Harry Levin ने कहा कि जेम्स के उपन्यास के रूपविधान में युग के सारत्व का रहस्य बोल उठा है। चलचित्र की Montage, चित्रकला की Impressionism, संगीत की Liet Motif, मनोविश्लेषण की स्वतन्त्र चेतना—साहचर्य-पद्धति तथा दर्शन की Vitalism—इन सबसे कुछ अंश लेकर तथा अपनी ओर से कुछ और जोड़कर एक मिश्रण घोलकर तैयार कीजिए और यही 'यूलिसिस' की कला होगी। यही बात अज्ञेय के बारे में लागू होती है।"[1]

1. डॉ० देवराज उपाध्याय : 'आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान', पृ० 190

'नदी के द्वीप' की कथावस्तु अत्यन्त रोमैन्टिक है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' की। इसकी कथावस्तु की सम्पूर्णता में प्रणय के संश्लिष्ट भाव काम करते हैं। अत: कुलमिलाकर, इसे प्रेममूलक अथवा 'रोमैन्टिक' उपन्यास की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। इसमें आगत पात्रों के प्रणय-सम्बन्धों का विकास अत्यन्त मनोवैज्ञानिक तथा क्रमिक ढंग से हुआ है। इस दृष्टि से स्वयं उपन्यासकार अज्ञेय का यह विश्लेषण द्रष्टव्य है : "मैत्री, सख्य प्रेम—इसका विकास धीरे-धीरे होता है, ऐसा हम मानते हैं, प्रथम दर्शन से ही प्रेम की सम्भावना स्वीकार कर लेने से भी इसमें कोई अन्तर नहीं आता। पर धीरे-धीरे होता हुआ भी वह समगति से बढ़ने वाला विकास नहीं होता, सीढ़ियों की तरह बढ़ने वाली उसकी गति होती है, क्रमश: नये-नये उच्चतर स्तर पर पहुँचने वाली। कली का प्रस्फुटन उसकी ठीक उपमा नहीं है, जिसका क्रम-विकास हम अनुक्षण देख सकें : धीरे-धीरे रंग भरता है, पंखुड़ियाँ खिलती हैं, सौरभ संचित होता है और डोलती हवाएँ रूप को निखार देती जाती हैं। ठीक उपमा साँझ वा आकाश है : एक क्षण सूना कि सहसा हम देखते हैं, अरे, वह तारा ! और जब तक हम चौंककर सोचें कि यह हमने क्षण-भर पहले क्यों न देखा—क्या तब नहीं था? तब तक इधर-उधर, आगे, ऊपर कितने ही तारे खिल आए, तारे ही नहीं, राशि-राशि नक्षत्र-मंडल, धूमिल उल्का-कुल, मुक्त-प्रवाहिनी नभपयस्विनी—अरे आकाश सूना कहाँ है, वह तो भरा हुआ है रहस्यों से जो हमारे आगे उद्‌घाटित हैं·····थार भी ऐसा ही है, एक समुन्नत ढलान नहीं, परिचिति के, आध्यात्मिक संस्पर्श के नये-नये स्तरों का उन्मेष·····। × × × गौरा से भुवन का चौदह वर्ष का—याकि सात-आठ वर्ष का—परिचय भी ऐसा ही था। इस लम्बे अन्तराल के बाद जो नया परिचय हुआ था, वह पहले परिचय से बिल्कुल भिन्न स्तर पर था, दूसरे स्तर पर वह समगति से चल रहा था कि सहसा एक झोंके से वह स्तर और उठा—वा गहरे में चला गया।"[1]

'नदी के द्वीप' वस्तुत: एक प्रेम-उपन्यास है। इसमें व्यक्त प्रणय की संवेदना को जीवन्त, प्राणवान तथा परिपक्व बनाती है—एक प्रकार की आन्तरिक वेदना अथवा पीड़ा। यह पीड़ा सर्जनात्मक व विधेयात्मक है। उपन्यासकार ने दरअसल इसे एक सर्जनात्मक ऊर्जा तथा तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। पीड़ा को अज्ञेय तपस्या के रूप में स्वीकार करते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' के बिल्कुल प्रारम्भ में उन्होंने 'वेदना' तत्त्व को 'शक्ति' के रूप में प्रयुक्त किया है : 'वेदना में एक शक्ति है,

1. 'नदी के द्वीप', पृ० 63

जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।' पीड़ा का दर्शन उनके काव्य के माध्यम से भी व्यक्त हुआ है और साथ ही प्रोक्त उपन्यासों के द्वारा भी। इस 'वेदना' तत्त्व के आलोक में ही शेखर की दृष्टि का निर्माण होता है, जबकि 'नदी के द्वीप' का नायक—भुवन इस पीड़ा के द्वारा 'मुक्ति' प्राप्त करने की चेष्टा करता है। लेखक ने इस 'वेदना' अथवा 'पीड़ा' के तत्त्व को बार-बार सबल रूप में स्वीकार और व्यक्त किया है। उपन्यास ('नदी के द्वीप') के बिल्कुल आरम्भ में, बल्कि आरम्भ से भी पूर्व उसने दुःख के स्थापत्य को इन शब्दों में सँवारा है :

"दुःख सबको माँजता है।
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।"

'नदी के द्वीप' के पात्रों—रेखा, गौरा और भुवन का चारित्रिक विकास इसी 'पीड़ा' अथवा 'वेदना' तत्त्व के परिप्रेक्ष्य में हुआ है। पीड़ा के संसर्ग से रेखा में उदारता के भावों का स्फुरण तथा उद्रेक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्वयं वेदना को सहन कर, भुवन और गौरा के प्रति वह संवेदनशील बन जाती है। गौरा को चूड़ियों की भेंट करना उसकी (रेखा की) इसी संवेदनशील मनोभावना का उदाहरण है। पुन : बाद में रेखा अपनी अँगूठी भी गौरा के पास भेज देती है, जो उसकी मसृण मनोवृत्ति का द्योतक है। रेखा ने बार-बार इस 'वेदना' के महत्त्व को समझा-बूझा तथा स्वीकारा और आत्मसात् किया है। एक स्थल[1] पर वह कहती है :

"तुमने एक ही बार वेदना में मुझे जना था, माँ
पर मैं बार-बार अपने को जनता हूँ
और मरता हूँ
पुनः जनता हूँ और पुनः मरता हूँ
और फिर जनता हूँ,
क्योंकि वेदना में मैं अपनी माँ हूँ।"[2]

1. नदी के द्वीप, पृ० 107
2. 'नदी के द्वीप' की ये पंक्तियाँ, जैसा कि अज्ञेय ने स्वयं लिखा है, उनकी नहीं हैं। जर्मन कवि एन्सर्ट टावर का अनुवाद है।"

—अपरोक्ष : अज्ञेय, पृ० 56

रेखा का चरित्र सामान्य नहीं, विशिष्ट है। न तो उसमें शरत्चन्द्र के नारी-पात्रों का आत्म-पीड़न है और न पारम्परिक प्रणय-कथा का ईर्ष्या-भाव। आरम्भ से ही उसके (रेखा के) मन में गौरा के प्रति सख्य-भाव की मसृणता वर्त्तमान है, जिसकी अभिव्यक्ति होती है उस काव्य के माध्यम से, जिसे उसने गौरा को प्रथम मिलन में चन्द्रमाधव के समक्ष सुनाया था :

"तोमाय
साजाबो यतने कुसुमे रतने
केयूरे कंकणे कुंकुमे चन्दने
साजाबो
किंशुके रंगने
तोमाय ....।"

अज्ञेय के प्रस्तुत उपन्यास में वेदना या पीड़ा को एक सशक्त दर्शन के रूप में अभिव्यक्ति मिली है। इस पीड़ावाद पर छायावाद तथा बौद्ध दर्शन के दुःखवाद का छाया-प्रभाव परिलक्षित होता है। 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर का प्रमुख लक्ष्य था : **स्वतन्त्रता** (Freedom) जबकि **'नदी के द्वीप'** का लक्ष्य है : **मुक्ति** (Salvation)। यही कारण है कि रेखा के चरित्र में प्रेम बन्धन का नहीं—मुक्ति का काम करता है। रेखा आत्म-पीड़न के मूल्य पर भुवन और गौरा के प्रति संवेदनशील बनती तथा भुवन को अपने-आपसे मुक्त करती है। गौरा भी कुछ ऐसी ही है। वियोग और विरह में ही उसे विशेष आनन्द मिलता है। इससे यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि अज्ञेय ने पीड़ा अथवा वेदना को समग्रतः एक सबल तत्त्व व दर्शन के रूप में व्यक्त किया है। यह एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है, जो मानव को करुण, निश्छल, उदार और इस प्रकार, अन्ततः उदात्त बनाता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने 'वेदना' को जीवन के विधायक तत्त्व के रूप में अभिज्ञापित तथा प्रतिष्ठित करने का उपक्रम किया है।

'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने व्यक्ति-पात्रों अथवा चरित्रों की गहन मनःस्थितियों का विश्लेषण अत्याधुनिक जीवन-बोध तथा उसके विविध संदर्भों में किया है। अकेलापन तथा अजनबीपन आधुनिक मनुष्य की नियति बन गया है। वह समाज में रहकर भी उससे कटा हुआ है, साथ ही अपने एकाकीपन में भी वह सर्वथा अलगाव और कटाव की पृथकता मात्र को ही झेलता हो—ऐसा भी नहीं है। आज का मनुष्य अपनी कुण्ठाओं से इस कदर ग्रस्त है कि अपने से बाहर वह सोच ही नहीं पाता—सोच सकता भी नहीं। 'नदी के द्वीप' के प्रायः सभी पात्र; चाहे

वह भुवन हो, चाहे रेखा अथवा गौरा—सभी के सभी इसके उदारहण हैं। ये समस्त पात्र मुक्त हैं, फिर भी अपने-अपने ढंग से अलग-अलग तौर पर सोचते-समझते, निर्णय करते तथा झेलते और भोगते हैं। सामाजिक अवरोधों से उन्मुक्त होने के बावजूद इनके दर्द अनकहे रह जाते हैं। ये पात्र एक-दूसरे से आबद्ध होते हुए भी परस्पर एक प्रकार का अलगाव और अकेलापन महसूस करते हैं। भुवन और रेखा में प्रणय तथा यौन-सम्बन्ध होते हुए भी वे अपनी जीवन-यात्रा में सदा के लिए एक-दूसरे को साथ नहीं बाँध पाते। उनमें कहीं-न-कहीं कोई दुराव, कोई अन्तराल अवश्य है। इसीलिए भुवन के लाख मना करने पर भी रेखा अपने गर्भ में स्थित उसकी (भुवन की) सन्तान को गिरा कर नष्ट कर देती है। गौरा और भुवन में तीव्र आकर्षण-भाव अवश्य है, किन्तु वे उसकी अभिव्यक्ति साफ तौर पर नहीं कर पाते। बल्कि आकर्षण-जन्य जो दर्द है, उससे दोनों में ही छटपटाहट होती है, किन्तु दोनों ही उस दर्द को मौन-भाव से झेल लेते हैं। गौरा को तो जैसे इन्हीं और ऐसी ही यातनाओं को झेलने में विशेष सुख प्राप्त होता है।

'नदी के द्वीप' में आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का नया आयाम प्रस्तुत किया गया है। आज के मनुष्य में प्रायः कुण्ठा, तनाव और बिखराव का प्राधान्य हो गया है। यह मनःस्थिति मुख्यतः मध्यवर्ग की है।[1] आज के युग-जीवन में मानवीय सम्बन्धों में एक ओर तीव्र आकर्षण और संश्लिष्ट ऐक्य-भाव दिखाई पड़ता है, तो दूसरी ओर तनाव, बिखराव और टूटन। यही कारण है कि आज मानवीय सम्बन्ध जितनी शीघ्रता और तीव्रता में स्थापित होते हैं, उतनी क्षिप्रता से वे टूट भी जाते हैं। उदाहरण के बतौर भुवन और रेखा के सम्बन्ध को लें : भुवन और रेखा में सम्बन्ध का गाढ़ापन जितना अधिक है, ठीक उसी अनुपात में छिजन भी। दूसरे शब्दों में यों कहें कि उनका पारस्परिक संबंध आकर्षण और विकर्षण की दुविधाओं में पलता, विकसित होता और अन्त में, तनाव के कारण टूट जाता है। सामीप्य के इस बिखराव और टूटन को भुवन अपने एक पत्र में इन शब्दों में व्यक्त करता है : 'रेखा, एक बात को तुम समझोगी—तुम नहीं समझोगी तो

1. अज्ञेय ने कुण्ठा का विश्लेषण करते हुए बिल्कुल ठीक लिखा है कि "आज का कवि (रचनाकार) मुख्यतः मध्यवर्ग से आता है और मुख्यतः मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है, इसी वर्ग में वर्जनाएँ सबसे अधिक क्रियाशील हैं और इसलिए इसी वर्ग में कुण्ठाएँ सबसे स्पष्ट लक्षित होती हैं। × × × कुण्ठा वहीं हो सकती है जहाँ किसी निषेध के कारण प्रवृत्ति और आचरण में विरोध की गाँठ पड़ जाए।"
(लिखि कागद कोरे : प्रथम संस्करण. पृ० 84)

कोई नहीं समझ सकेगा—प्यार मिलाता है, व्यथा भी मिलाती है, साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलाता है, लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियाँ मिलाती नहीं, अलग कर देती हैं, सदा के लिए और अन्तिम रूप से ?...'

दरअसल, आज का मानवीय सम्बन्ध दो विपरीत दिशाओं तथा विरोधी वृत्तियों की रस्साकशी में पलता और दोलायित होता है। अतः आज के मनुष्य का यही जीवन-द्वन्द्व भी है, जिसे अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में वैयक्तिक स्तर पर उभारने की भरपूर चेष्टा की है। मानवीय सम्बन्धों में निहित इस तनाव, बिखराव और टूटन को उन्होंने भली-भाँति पहचाना और महसूस किया है। अज्ञेय की एतद्-सम्बन्धी अभिव्यक्ति का आधार-फलक निश्चय ही सामाजिक जीवन न होकर वैयक्तिक है। यही कारण है कि इनके उपन्यासों में व्यक्ति का वैयक्तिक रंग अत्यन्त गाढ़ा दिखाई पड़ता है। इस सन्दर्भ में एक बात और भी विशेष रूप से यह कहनी है कि 'नदी के द्वीप' में आधुनिकता की चुनौती को सर्वथा वैयक्तिक स्तर पर स्वीकारा और व्यक्त किया गया है। बहरहाल, 'नदी के द्वीप' के लेखक का अभीष्ट सामाजिक जीवन-प्रवाह के व्याप्ति-विस्तार का अंकन न होकर, व्यक्ति-द्वीपों के समस्त आन्तरिक ऐक्य को आधुनिक सन्दर्भों में विश्लेषित तथा प्रस्तुत करना है, जिसमें उसे बेहद सफलता प्राप्त हुई है।

अपने-अपने अजबनी : (1951)

'अपने-अपने अजनबी'—अज्ञेय का नव्यतम तथा अब तक प्रकाशित तीसरा और अन्तिम उपन्यास है। व्यक्ति के अकेलापन, अलगाव और अजनबीपन के जिस बोध को 'नदी के द्वीप' में गृहीत व स्पर्शित भर किया गया था, उसे ही 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के व्यापक फलक पर कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। आज के मनुष्य के जीवन में इतनी अधिक अस्त-व्यस्तता और भाग-दौड़ हो गई है कि आत्म-साक्षात्कार तक की फुर्सत उसे नहीं है। आस-पास, अगल-बगल सब-के-सब उसे अजनबी-से लगते हैं: 'अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजें, अजनबी मुद्राएँ और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।'[1] स्पष्ट है कि जीवन का अन्तर्बाह्य अजनबीपन ही रचनाकार

1. अपने-अपने अजनबी, पृ० 104

की मूलभूत संवेदना के रूप में अभिव्यक्त होता है।

जीवन-जगत में सबके-सब अजनबी ही अजनबी हैं, किन्तु सबसे अधिक अजनबी है : 'मृत्यु का साक्षात्कार' ! लेखक की दृष्टि में 'मृत्यु' ही जीवन का चरम सत्य व तत्त्व है। वस्तुत: वही ('मृत्यु' ही) जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करती है, अत: सर्वाधिक महत्ता भी उसी की है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने प्रस्तुत उपन्यास में जीवन के अजनबीपन तथा एकाकीपन की समस्या के साथ ही साथ मानव-अस्तित्व, मृत्यु तथा ईश्वर आदि के प्रश्नों को अस्तित्ववादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अन्वेषित करने तथा उरेहने की चेष्टा की है। **'शेखर : एक जीवनी'** की भी मुख्य संवेदना, 'फाँसी' अथवा **'मृत्यु-भय'** ही है, फिर भी उपन्यासकार अज्ञेय के ही शब्दों में—'अन्तर केवल यह है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है यानी **मैं** मर जाता हूँ तो कुलमिलाकर मेरे जीवन का क्या अर्थ हुआ ? पर, यहाँ यह है कि जीवन-मात्र के नक्शे में मृत्यु-मात्र का स्थान है और यहाँ मैंने दो दृष्टियों को सामने लाने की कोशिश की है। एक को मोटे तौर पर पूर्व की कह सकते हैं और दूसरे को पश्चिम की।"[2] इसमें पूर्व की दृष्टि के रूप में सेल्मा की सृष्टि की गई है, जबकि पश्चिम की दृष्टि सेयो के की। सेल्मा में आस्था, विश्वास और धैर्य है तो योके का मन-प्राण अनास्था से आविल है। मृत्यु-बोध दोनों को ही है, किन्तु दोनों में सबसे बड़ा फर्क यह है कि 'सेल्मा मरती हुई भी जिये जा रही है और मैं (योके) हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।"[2]

इससे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि पौर्वात्य और पाश्चात्य जीवन-दृष्ठि की पारस्परिक टकराहट और उसके तनाव को अज्ञेय ने अपनी प्रस्तुत कृति में रचनागत संस्कार व संवेदना के रूप में अनुभूत तथा अभिव्यक्त किया है। इस सम्बन्ध में श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कहना बिल्कुल सही तथा समीचीन प्रतीत होता है कि—"समकालीन साहित्य में पूर्व और पश्चिम की टकराहट का साक्ष्य अज्ञेय के कृतित्व ने आरम्भ से ही प्रस्तुत किया है। पश्चिम का दबाव लेखक के उपन्यासों में अधिक है, काव्य का रूप मूलत: तद्भव, ठेठ और भारतीय है। उदाहरण के लिए 'आँगन के पार द्वार' और 'अपने-अपने अजनबी' को लिया जा सकता है। काव्य-संकलन के प्रतीक और बिम्ब, और तदनुरूप उसकी संवेदना, अनिवार्यत: भारतीय जीवन से गृहीत है। पिछले संकलनों की

1. 'अपने-अपने अजनबी'—लेखक की दृष्टि में—'ज्ञानोदय', जुलाई 63, पृ० 20.
2. 'अपने-अपने अजनबी' (तीसरा संस्करण), पृ० 35.

तुलना में यहाँ पश्चिम का प्रभाव भारतीय उन्मेष में घुल-मिल गया है। दूसरी ओर 'अपने-अपने अजनबी' है। इसका विषय पश्चिम के जीवन से सम्बद्ध है, यह गौण बात है! पर रचना की वस्तु को प्रस्तुत करने में भी लेखक के दूसरी दिशा में प्रयत्न के बावजूद अन्ततः पश्चिम की ही दृष्टि उभरती जान पड़ती है। उपन्यास के अन्तिम अंश में पश्चिम की एक मृत्यु को पूर्व का चरित्र जगन्नाथन—एक अजनबी साक्षी—मानो सार्थकता प्रदान करता है। पर रचना में पश्चिम की दृष्टि परिभाषित है, जबकि पूर्व के प्रतिनिधि जगन्नाथन की दृष्टि का ठीक-ठीक आख्यान नहीं हो पाया है।[1] इस कथन के उत्तरार्द्ध या कहें, अन्तिम वाक्य से पूर्णतः सहमत होना कठिन है। रचना ('अपने-अपने अजनबी') में जहाँ पश्चिम की दृष्टि परिभाषित होती है, वहाँ उसी के समानान्तर और विलोम में पूर्व के प्रतिनिधि जगन्नाथन की जीवन-दृष्टि के माध्यम से पूर्व का दृष्टि-दर्शन भी ध्वनित और अभिव्यञ्जित होता है। अज्ञेय का साहित्य अभिधा या लक्षणा-मूलक कम, मुख्यतः व्यञ्जना-सिद्ध ही अधिक है। इसलिए केवल 'पश्चिम की दृष्टि' खोजना रचना के साथ न्याय-संगत नहीं माना जा सकता। मेरी दृष्टि में 'अपने-अपने अजनबी' में पौर्वात्य (भारतीय से ही विशेष तात्पर्य है) और पाश्चात्य जीवन-दृष्टि की संश्लिष्टता को ध्वनित करना उपन्यासकार का अभीष्ट है। उसमें न तो कहीं-कोई एकांगिता है और न किसी प्रकार का पूर्वग्रह। यहीं पर रचनाकार अज्ञेय की रचनागत निर्लिप्तता, तटस्थता और संवेदना के प्रति ईमानदारी का अनुबोधन भी होता है।

अज्ञेय ने अपने प्रस्तुत उपन्यास को तीन उप-शीर्षकों में विभाजित किया है:

1—योके और सेल्मा
2—सेल्मा
3—योके।

'योके और सेल्मा' में बर्फ से आवृत्त और क़ब्रनुमा घर में साथ-साथ रहती हुई योके और सेल्मा की—द्वन्द्वात्मक मानस-कथा है। 'सेल्मा' में सेल्मा के अतीत की कथा 'प्रत्यक्-दर्शन-प्रणाली' ('फ्लैश-बैक-टेकनीक') द्वारा प्रस्तुत की गई है। और 'योके' में योके की आकस्मिक मृत्यु और उसकी मानसिकता को उभारा और विश्लेषित किया गया है।

सेल्मा—वृद्धा सेल्मा गड़ेरिये की माँ है, जो पहाड़ पर रहती है और सर्दियों

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या : पृ० 116-17

में हर बार अपने दोनों लड़कों के साथ नीचे चली जाती है किन्तु, इस बार नहीं जा सकी। योके पहाड़ की सैर की दृष्टि से अपने प्रेमी पॉल सोरेन के साथ वहाँ गई थी। बर्फ में घिर जाने और प्रेमी से वियुक्त होने के कारण वह सेल्मा के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है। योके इस बात से आश्वस्त है कि उसका प्रेमी—पॉल उसे निश्चित रूप से खोज लेगा; क्योंकि वह (पॉल) 'कहा करता है कि तुम दुनियाँ के किसी भी देश में होतीं तो मैं तुम्हें खोज निकालता—लाखों, करोड़ों में तुरन्त पहचान लेता···वह दूसरी टोली के साथ दूसरे पहाड़ पर गया था और बर्फ से उतरते आते हुए नीचे मिलने की बात थी। ढाई महीने तीन महीने ! क़ब्रगाह—क्रिसमस ! पाताल लोक में देश-शिशु का उत्सव। नरक में भगवान ! पॉल ढूँढ़ निकालेगा—पर किसको ? मुझको, या मेरी···।"[1] योके के लिए परिस्थिति बिल्कुल नयी है किन्तु, सेल्मा तो इसमें सधी हुई है। बहरहाल, योके के लिए सारी परिस्थिति, सारी वस्तु और यहाँ तक कि साथ रहने वाली सेल्मा भी अजनबी है। अजनबीपन की यह विषम स्थिति उसके लिए अत्यन्त कष्टकर मालूम होती है। अपने अस्तित्व-बोध के प्रति वह सचेत है। उसकी रक्षा भी वह खूब करना चाहती है। अस्तित्व-बोध-सम्बन्धी उसकी यह संवेदना और चेतना इन पंक्तियों में उजागर होती हुई दिखाई पड़ती है, जहाँ वह सोचती है : "एक धुँधली रोशनी—एक ठिठका हुआ निःसंग जीवन ! मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे इतना भी वश नहीं है कि उस यंत्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दें !···घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जायेगा और रुक भी जायेगा तो यहाँ पर क्या अंतर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है! एक ही अन्तहीन लम्बे शिलित क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती जा रही हूँ और वह क्षण ज़रा भी नहीं बदलता, टस-से-मस नहीं होता है। क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं ? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर उगते हैं ? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी में भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है।"[2]

सेल्मा और योके—दोनों ही बर्फ से घिरी हुई हैं। योके से यह स्थिति सहन

1. अपने-अपने अजनबी : (तीसरा संस्करण) पृ० 13
2. अपने-अपने अजनबी, पृ० 16

नहीं होती, लेकिन सेल्मा सब कुछ अनासक्त भाव से जिये जा रही है। क़ब्र की ज़िन्दगी एक दिन नियति बनकर सामने आती है और तब मनुष्य उसमें भी एकाधिकार की कामना करने लगता है किन्तु व्यर्थ! योके सोचती है कि 'यह कैसी परिस्थिति आ गयी है कि मुझे सब ओर बर्फ का भी ध्यान नहीं रहा है कि मैं यह भी भूल गयी हूँ कि हम दोनों एक ही क़ब्र के साझीदार हैं और सोचती हूँ तो केवल एक ही बात—कि अब साझीदार कब हट जायेगा, और मैं इस क़ब्र में अकेली रह जाऊँगी।"[1] सेल्मा और योके में—उनके जीवन के सिद्धांतों में बहुत बड़ा फ़र्क है। वस्तुत: दोनों का फ़र्क जीवन और मृत्यु के परस्पर विलोम का फ़र्क है। योके के ही शब्दों में—"वह (सेल्मा) जानती है और जानकर मरती हुई भी जिये जा रही है। और मैं (योके) हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।"

ईश्वर और मृत्यु के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी इदं-इत्थं नहीं कहा जा सकता। वह किसी स्वीकृति में बँध नहीं पाता—बँध नहीं सकता। वह केवल नकार है अमोघ नकार! सेल्मा एक स्थल पर कहती है: 'ईश्वर·· ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते, जब तक कि मृत्यु में ही उसे पहचान न लें।···' पुन: उसका वैचारिक परिकथन भी कम ध्यातव्य नहीं है, जहाँ वह कहती है: 'भ्रम भी क्या कम ईश्वर है? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण हैं—और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अंतिम और चरम और संपूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही·· इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर—ज्ञान है। बाकी सब सतही बातें हैं, और झूठ हैं।' दूसरी तरफ है—योके, जो ईश्वर या मृत्यु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती। उसके लिए अहं ही सब कुछ है—'स्व' के अस्तित्व को ही वह सर्वेसर्वा मानती है। इसके लिए वह अपना तर्क इन शब्दों में प्रस्तुत करती है: "मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यों मानूं? मैं मृत्यु को नहीं मानती, न ही मान सकती,

1. अपने-अपने अजनबी, पृ० 35

नहीं मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी—लेकिन जब नहीं रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूं—कि मैं मर चुकी हूँ ? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिसका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं,—या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है ? वह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसलिए हमारे साथ भी होगा।···'मैं हूँ' के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है, 'मैं नहीं हूं' यह बोध नहीं है बल्कि बोध का न होना है।"[1] इन्हीं दिनों कैंसर की मरीज—सेल्मा की मृत्यु हो जाती है और योके को उससे छुटकारा मिलता है। पुनः योके अपने अस्तित्व के संबंध में चिन्तन-अनुचिन्तन करती है : 'क्या कहीं भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़कर ? यह क्षमा तो अभ्यास नहीं है, याचना भी अभ्यास नहीं है, तब यह सच है और ईश्वर है तो कहीं गहरे में इसी में होगा··· पर क्या क्षमा, कैसी क्षमा, किससे क्षमा ? मैं जो हूँ वही हूँ।"[2] सेल्मा मर चुकी है। योके अपने चारों तरफ—सर्वत्र मृत्यु-गंध को महसूसती है तथा उस गंध को पास आने से रोकने का प्रयास करती है, किन्तु 'एकाएक योके को लगा कि वह गंध और कहीं से नहीं आ रही है, उसी में है—उसी की देह में से आ रही है।"[3]

अन्ततोगत्वा, योके का सतीत्व जर्मनों द्वारा भंग किया जाता है और वह वेश्या बना दी जाती है। ऐसी स्थिति में, मानसिक रूप से वह विक्षिप्त हो जाती है और जीवन-जगत सबसे, यहाँ तक कि अपने-आपसे भी घृणा करने लगती है। जीवन की अन्तिम घड़ियों में एक भारतीय पुरुष—जगन्नाथन् के पास पहुँच कर अपनी मनोव्यथा सुनाते हुए, वह जहर खाकर मृत्यु का वरण कर लेती है। अब वह योके से मरियम बन गई है। जगन्नाथन् के पूछने पर वह कहती है : 'मेरा नाम मरियम। ईसा की माँ का नाम मरियम। चुनी हुई माँ। जो कभी मर नहीं सकती—जर्मनों की वेश्या। उससे पहले मेरा नाम योके था।'[4]

उपन्यास में जगन्नाथन् का अवतरण और प्रवेश एकदम नाटकीय ढंग से हुआ है। वह व्यक्ति के रूप में एक प्रतीक है। वह प्रतीक है—आस्था का।

1. 'अपने-अपने अजनबी', तीसरा संस्करण, पृ० 50
2. वही, पृ० ९8-99
3. वही, पृ० 96
4. वही, (तीसरा संस्करण) पृ० 110

स्वयं उपन्यासकार अज्ञेय ने इस सम्बन्ध में लिखा है: "जगन्नाथन् प्रतीक नाम है, चाहे जिस भाषा में अनुवाद कर लीजिए। प्रतीक वह भारतीयता का नहीं है, आस्था का है—आस्था में ही पूर्व और पश्चिम की दृष्टि मिल सकती है।"[1]

अज्ञेय के पहले उपन्यास **'शेखर : एक जीवनी' में 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य'** को अन्वेषित करने का प्रयास किया गया है। **'नदी के द्वीप'** में वही बोध **अकेलापन, अलगाव** और **अजनबीपन** आदि के रूप में व्यञ्जित होता है। और **'अपने-अपने अजनबी'** उपन्यास तो सम्पूर्ण रूप से **अजनबीपन के उसी बोध को प्रस्तुत करने वाला एक दस्तावेज बन गया है।** इस संसार में सब कुछ—वस्तु और व्यक्ति अजनबी-से लगते हैं। किन्तु सबसे बढ़कर अजनबी है—**'मृत्यु का साक्षात्कार।'** वस्तुत: मृत्यु-बोध ही सम्पूर्ण उपन्यास की संवेदना के रूप में सम्प्रेषित होता है। दूसरे शब्दों में यूं भी कह सकते हैं कि उपन्यास की अन्विति मृत्यु-बोध की धूमिल छाया से ग्रस्त है। 'मृत्यु-बोध' की इस संवेदना को उपन्यासकार अज्ञेय ने अस्तित्ववादी दर्शन के परिपेक्ष्य में विन्यस्त करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। 'शेखर : एक जीवनी' के **'व्यक्ति स्वातन्त्र्य'** का विकास 'नदी के द्वीप' में **ऐकान्तिकता, अलगाव** और **अजनबीपन में** होता है और उसकी परिणति होती है—**'अपने-अपने अजनबी'** में **वरण स्वातन्त्र्य के रूप में।** इस कथन की पुष्टि स्वयं अज्ञेय की इन पंक्तियों से आसानी से हो जाती है, जहाँ ('हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० 130 पर) वे लिखते हैं : 'व्यक्ति के वरण स्वातन्त्र्य की—अहं की परितुष्टि खोजने के अधिकार की विशद चर्चा पर एक उपन्यास ('अज्ञेय अपने-अपने अजनबी') में की गई है। यहाँ भी सिद्धान्त यही है कि दुर्दम दावेदार अहं के लिए वरण का एक ही मार्ग खुला हो सकता है—मृत्यु के वरण का; यही उसका अन्तिम दावा हो सकता है। अहं की परितुष्टि का अधिकार मान्य समझा गया है, पर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वह अनिवार्यतया स्वघातिनी ही हो सकती है। यह स्पष्ट नहीं कहा गया, पर लेखक के उद्देश्य में निहित अवश्य है कि पश्चिम की दृष्टि ऐसी ही दृष्टि है।"

योके के मन में न तो ईश्वर के प्रति कोई विश्वास है और न मृत्यु के प्रति ही। ईश्वर और मृत्यु—दोनों को ही वह भ्रम मानती है। केवल अपने अस्तित्व और अपनी स्वतन्त्रता को ही वह सर्वस्व मानने की आदी है। अत: योके की इस धारणा के सम्बन्ध में सेल्मा कहती है : "तुम जो अपने को स्वतन्त्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतन्त्र हैं। बल्कि

1. अपने-अपने अजनबी : लेखक की दृष्टि में, 'ज्ञानोदय, जुलाई, 63, पृ० 20

अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं; और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।" उसकी दृष्टि में—'कहीं (भी) वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नहीं····· हम इतने स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें··· अजनबी, अनपहचाना डर··· क्या हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अजनबी से पहचान कर लें ?"[1] इस प्रकार, उपन्यास के केन्द्रीय भाव के रूप में **'मृत्यु-बोध'** की अभिव्यक्ति और स्थापना की गई है। दूसरे शब्दों में यूँ कहें कि अजनबी-मृत्यु की परछाईं से उपन्यास की मूल संवेदना आवृत्त है। मृत्यु की आशंका व्यथा और करुणा-जन्य होती है। इसकी भयातुर आशंका से मानव-मन में कई प्रकार के बदलाव आते हैं, विचारों और भावनाओं में उतार-चढ़ाव होते हैं और साथ ही मानवीय-सम्बन्धों में भी कई प्रकार के परिवर्तन संभाव्य होते हैं—तथाकथित आत्मीय जन अजनबी हो जाते हैं और अनजाने—अनपहचाने अजनबी भी अपने बन जातेहैं। सेल्मा और योके—दोनों की ही नियति की परिणति कुछ उसी रूप में होती है। वरण-स्वातन्त्र्य मनुष्य के लिए अत्यन्त सुखद होता है, किन्तु सबसे बड़ी दुखान्तकी ('ट्रेजडी') भी यही है कि मानव उसे प्राप्त नहीं कर पाता। योके सेल्मा से कहती है : "आण्टी, आपको क्या मेरा यहाँ रहना कष्टकर लगा ? अगर वैसा है तो मुझे दुःख है, पर मेरी लाचारी है। यह तो मैं कह नहीं सकती कि मैं अभी चली जाती हूँ। वह मेरे बस का होता···।' सेल्मा (बुढ़िया) ने उसके उत्तर में सहसा गम्भीर होकर कहा—'कुछ भी किसी के बस का नहीं है, योके। एक ही बात हमारे बस की है—इस बात को पहचान लेना। इससे आगे हम कुछ नहीं जानते।'[2]

इसी भाव की पुनरावृत्ति वह आगे भी करती है: "स्वतन्त्रता—कौन स्वतन्त्र है ? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा ? मैं क्या स्वतन्त्र हूँ कि बीमार न रहूँ—या कि बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूँ कि मर जाऊँ ? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी ? तुम क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए—भगवान् ने एक—एक अजनबी भेज दिया ?"[3] सेल्मा का अन्तिम निष्कर्ष भी यही है कि "वरण की स्वतन्त्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं। ईश्वर

1. अपने-अपने अजनबी, पृ० 101
2. वही, पृ० 26
3. वही, पृ० 43

भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है— उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा।"[1] योके की स्थिति भी सेल्मा से कोई भिन्न नहीं है। कैंसर की बीमारी से ग्रस्त— सेल्मा के साथ स्वेच्छा से वह कब्रनुमा बर्फीले घर में रहने नहीं आती, लेकिन नियति उसे आकर रहने के लिए मजबूर करती है, अन्यथा वह कब और क्यों चाहती कि कब्र में कैद होकर कैंसर की मरीज के साथ रहे और उसकी सेवाएँ ग्रहण करे···'और न बीमार आदमी से सेवा लेकर स्वस्थ आदमी अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सकता है।' कुलमिलाकर इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि जीवन में वैकल्पिक वरण अथवा चयन-स्वातन्त्र्य कहीं नहीं है। मृत्यु जीवन का सबसे बड़ा और अन्तिम सत्य है। इसके आगे या पीछे कुछ नहीं है, कुछ नहीं होता, शायद ईश्वर भी नहीं। मृत्यु के अस्तित्व में ही वस्तुत: ईश्वर को समाहित किया गया है अर्थात् ईश्वर की सत्ता मृत्यु से कोई अलग नहीं है।

'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास कम, दर्शन का अवान्तर विश्लेषण अधिक है। इसमें न तो कथा का व्यास-विन्यास है और न औपन्यासिक तत्त्वों का विस्तार-संघटन। इस उपन्यास के माध्यम से वस्तुत: अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन का प्रस्तुतीकरण किया गया है। स्वभावत: इसकी औपन्यासिकता दर्शन के गूढ़ विचारों और प्रत्ययों से बोझिल मालूम पड़ती है। यह बोझ, अन्तत: पाठक के मन पर ही पड़ता है, जिससे इसके सहज आस्वादन में प्राय: एक प्रकार के (रसात्मक) व्यवधान की प्रतीति होती है। लेकिन अज्ञेय के दीक्षित और कॉन्शस पाठक के लिए यह कोई नयी बात नहीं लगती। इसलिए उनके रस-बोध में कहीं-कोई विशेष कठिनाई नहीं मालूम होती। दूसरी बात यह है कि इसमें नियोजित मनोवैज्ञानिकता दर्शन की गूढ़ चेतना को संवेद्य बनाती है, जिससे चिन्तन का अतिरिक्त बोझ हल्का हो जाता है।

अस्तित्ववाद ईश्वर,[2] आस्था, करूणा तथा नैतिकता आदि को नहीं मानता, क्योंकि मृत्यु चरम सत्य है। अस्तित्ववाद अस्तित्व (Existence or beingness) को ही सब कुछ मानता है। लेकिन अस्तित्व भी अधूरा और अपूर्ण है। मनुष्य जहाँ अपने अहं के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वहाँ भी वह असहाय

1. अपने-अपने अजनबी, पृ० 100
2. 'He (Jean Paul Sartre) rejects the hidden Kierkegaardian God.'

—Iris Murdoch : 'Sartre' Introduction, Page 7

और अक्षम ही होता है। सार्त्र के मतानुसार—'Men are powerless only when they admit they are.'[1] मनुष्य के पास न तो वरण का विकल्प होता है और न ही स्वातंत्र्य। सार्त्र ने अपने उपन्यास 'Nausea' तथा 'In Camera' में इसी 'कथ्य' को प्रतिपादित किया है। 'Nausea' का नायक एक ऐसा मानव है, जो संसार से कुचले और ह्रास किये जाने के बावजूद अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष का सामना नहीं कर पाता। वह अपनी डायरी में अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में लिखता है : "I am in the midst of things, which cannot be given names. Alone, wordless, defenceless, they surround me... ...They demand nothing, they don't impose themselves, they are there." उसी सन्दर्भ में वह अपने आपको देखता हुआ कहता है : 'To exist is simply to be there.' सार्त्र की एक दूसरी कृति 'In Camera' के पात्र भी अपने वैकल्पिक वरण-स्वातंत्र्य के प्रति अत्यल्प सजग हैं। 'In Camera' के कुछ ऐसे व्यक्तियों की कल्पना की गई है, जो लोग एक कमरे में कैद कर दिये जाते हैं, और वे समझते हैं कि सभी कैद किये गए लोग मर चुके हैं। किन्तु, कालान्तर में उनके इस भ्रम का निवारण होता है कि वे लोग मरे नहीं हैं। दर-असल, यह 'कमरा' 'नरक' का प्रतीक है, जिसमें लोग साथ रहना नहीं चाहते, किन्तु बरबश उन्हें रहना पड़ता है। यह संसार भी एक प्रकार का नरक है, जिसमें नहीं चाहने के बावजूद हम अपने अजनबी लोगों के साथ रह लेते हैं। यही विवशता की सशक्त प्रक्रिया है। सेल्मा और योके के साथ भी यही बात लागू होती है। इच्छा के विरुद्ध उन दोनों को परस्पर रहने की बाध्यता है, और यही उनकी सबसे बड़ी यातना है, जिसे नियति का परिणाम समझ कर उन्हें झेलना पड़ता है।

अस्तित्ववाद काल (समय) को शाश्वत सत्य न मानकर केवल क्षण का ही विश्वासी है। दूसरे शब्दों में इसे क्षणवादी दर्शन भी कह सकते हैं। उसके लिए क्षण ही सत्य है, सब कुछ है। क्षण इतिहास से परे है, वह केवल अनुभव है, जो इतिहास अथवा भूत-भविष्य की सीमा के बंधन को स्वीकार नहीं करता। योके के इस परिकथन में अस्तित्ववाद के इसी सिद्धान्त की स्थापना हुई है, जहाँ वह कहती है : 'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। क्षण वही है, जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्त्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर

1. Jean Paul Sartre : 'What is Literature', Introduction, Page xii

ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खंड क्यों न हो, उसमें मेरा जीना कालसापेक्ष जीना है। वह बिन्दु नहीं है, रेखा है : रेखा परम्परा है और क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।" (पृ० 21)

इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अपने-अपने अजनबी' में उपन्यासकार अज्ञेय ने अस्तित्ववादी दर्शन के परिप्रेक्ष्य में जीवन का संश्लेषण-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें औपन्यासिक ऋजुता कम, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रत्यय अधिक हैं। अज्ञेय ने इस कृति के माध्यम से आधुनिकता की चुनौती को संवेदना और भावना के बजाय चिन्तन और दर्शन के स्तर पर स्वीकार किया है। ●

3

अज्ञेय के उपन्यास

मनोवैज्ञानिक संचेतना

अज्ञेय मूलत: मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। अत: इनके उपन्यासों में अतिरिक्त आदर्श की इयत्ता की अस्वीकृति और यथार्थ का अधिकाधिक आग्रह मिलता है। इनका उद्देश्य उपन्यासों में न तो घटनाओं के बाहुल्य का निर्माण करना है, न बाह्य क्रिया-कलापों का विवरण प्रस्तुत करना, अपितु व्यक्ति-चरित्र की अन्तश्चेतना के उद्घाटन और निरूपण को ही वे सार्थक मानते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि सदैव इनकी 'रुचि व्यक्ति में रही है।'[1] उनका कहना है कि 'कहानीकार (कथाकार) के रूप में 'अज्ञेय' की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है।'[2] स्पष्ट है कि बाह्य घटनाओं के बजाय वे व्यक्ति की आभ्यन्तरिकता पर अधिक बल और अवधान देते हैं। कथा में 'ज्यों ही मानवीय तत्त्व का समावेश होता है, मनोवैज्ञानिकता आ जाती है।'[3] बहरहाल, इन तथ्यों के विवेचन से इतनी बात साफ हो जाती है कि अज्ञेय की औपन्यासिक प्रवृत्ति खासा मनोविज्ञानपरक है। दूसरे शब्दों में यूं कहें कि अज्ञेय के उपन्यास मनोवैज्ञानिक संचेतना से संचारित और सम्पृक्त हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहने का अभिप्राय वैसे उपन्यासों से है, जो मूलत: मनोविश्लेषण पर आधृत हों। डॉ० देवराज उपाध्याय ने ऐसे उपन्यासों के लक्षण को परिभाषित करते हुए लिखा है: "मनोविज्ञान का अर्थ, जहाँ तक उपन्यास-कला का प्रश्न है, अनुभूति का विषयीगत तथा आत्मनिष्ठ रूप (Subjective aspect of experience) है। यदि किसी उपन्यास में घटना या अनुभूति के आत्मनिष्ठ रूप की अभिव्यक्ति पाएंगे तो हम उसे मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहेंगे।"[4] उन्हीं के दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं कि 'पात्रों के भावों

1. अज्ञेय : 'आत्मनेपद' (प्रथम संस्करण), पृ० 71
2. अज्ञेय : 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य : पृ० 107
3. 'कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि', पृ० 38
4. डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (प्रथम संस्करण), पृ० 14

के उत्थान-पतन को तथा मानसिक प्रक्रिया को विस्तृत रूप से पाठकों के सामने रखना, यही उपन्यास में मनोवैज्ञानिकता कहलाती है।"[1]

अज्ञेय के उपन्यास वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ या व्यापक अर्थ में व्यष्टिनिष्ठ हैं। उनमें घटनाओं का जोर न होकर, संश्लिष्ट अनुभूति और भावना के सम्प्रेषण का प्राधान्य है। उनमें (सामाजिक) जीवन की लम्बाई, चौड़ाई या व्यापकता उतनी नहीं मिलती, जितनी व्यक्ति-चरित्र की अन्तश्चेतना की गहराई मिलती है। साहित्यिक विधाओं में 'गहराई' तत्त्व का आकलन जहाँ रचनात्मक स्तर पर किया जाता है, वहाँ या तो दर्शन की छिटक मिलती है अथवा मनोविज्ञान का प्रत्यक्षीकरण होता है। अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियाँ मनोविज्ञान-सम्मत होने के साथ-ही-साथ दार्शनिक चेतना से भी संस्पर्शित हैं। इसका अभिप्राय यह कतई नहीं है कि अज्ञेय ने मनोविज्ञान और दर्शन के आलोक में अपनी औपन्यासिक रचनाओं का सृजन किया है। वस्तुतः उनकी साहित्यिकता के भीतर से ही मनोविज्ञान और दर्शन व्युत्पन्न होता हुआ दिखाई पड़ता है। रचना में मनोविज्ञान या दर्शन जब अतिरिक्त अथवा अलग रूप में स्वीकृत किया जाता है तो इसका मानी है कि रचनाकार आरोपित मूल्यों को स्वीकार करता है। अज्ञेय अपनी रचनाओं में सर्वत्र और सदैव आरोपित मूल्यों को नकार कर, आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते हैं।

अज्ञेय के उपन्यासों की मनोवैज्ञानिकता के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचक एकमत हैं। स्वयं विचारक-आलोचक अज्ञेय भी इस तथ्य से सहमत हैं। आधुनिक उपन्यास-साहित्य में मनोवैज्ञानिक अथवा मनोविश्लेषणात्मक प्रभाव को वे बार-बार विधेयात्मक तौर पर स्वीकार करते हैं। उदाहरण के बतौर उनकी कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं : 'नये वैज्ञानिक अनुसंधान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि बदल दी। उसका लिखना ही बदल गया क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी। उसके बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्राइड के साथ आया। उसकी मनोविश्लेषण-पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इससे उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली, जिसके सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना-प्रवाह ('स्ट्रीम ऑफ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण (इंटर्नल

1. डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान (प्रथम संस्करण) पृ० 14

मोनोलॉग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं। और आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्व रखता है।"[1]

आज के उपन्यासकार के लिए बाह्य परिस्थिति और घटना उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना व्यक्ति-मन का अन्तर्संघर्ष; क्योंकि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया है—तनावपूर्ण परिस्थिति। अज्ञेय के शब्दों में—"बाह्य परिस्थिति से संघर्ष—मानव और नियति का संघर्ष—इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्योंकि **व्यक्ति-मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है।** व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि **मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया है।** इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा, क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वापित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती है और रह सकती है।"[2]

ऊपर के इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का पूरा-का-पूरा जोर व्यक्ति के मनःसत्य और अन्तर्संघर्ष पर है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव-मन से है अर्थात् मानव-मन का अध्ययन करने वाला शास्त्र या विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। मनोविज्ञान का क्षेत्र मानव के मानसिक कार्य-व्यापार तक व्याप्त है। मानव-मन को तीन भागों में विभक्त किया गया है : चेतन (Conscious), उपचेतन अथवा अवचेतन (Pre or Sub-Conscious) तथा अचेतन मन (Unconscious mind)। आधुनिक मनोविज्ञान सामान्य मनुष्य का ही नहीं, प्रत्युत् असामान्य मनुष्य की मानसिक क्रियाओं की असामान्यता का भी अध्ययन प्रस्तुत करता है। सिगमण्ड फ्रायड को आधुनिक मनोविज्ञान का पिता कहकर अभिहित किया जाता है। उसका मनोविश्लेषणवाद अत्यधिक विकसित और विश्वास्य है। उसने मनुष्य की कल्पना से लेकर सपनों तक का विश्लेषण प्रस्तुत किया है, साथ ही विक्षिप्त मन का अध्ययन भी उसने बड़ी बारीकी से किया है। अज्ञेय ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में घटनाओं का जाल न बुनकर, व्यक्ति-चरित्र[3] का उद्घाटन भर किया है। इसके लिए उन्हें सर्वत्र व्यक्ति की मानसिक गहराई में प्रविष्ट करना पड़ा है। व्यक्ति की मानसिकता को उरेहने और चित्रित करने के लिए उन्होंने

1. अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 82-83
2. अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 83
3. इस सन्दर्भ में सी०ई०एम० जोड (C. E. M. Joad) ने एक स्थल पर लिखा है : 'Novelist should seek to record the inner life of thought and feelings.'

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का भरपूर उपयोग किया है। फिर भी, इनके उपन्यासों में फ्रायडीय मनोविश्लेषणवाद कहीं भी पेबन्द या जोड़ की तरह नहीं लगता। वस्तुत: अज्ञेय एक ऐसे विरल कलाकार हैं, जो मनोविज्ञान को, साहित्य के रस में घोलकर एक प्रकार के रसायन के रूप में प्रस्तुत करते चलते हैं। यही कारण है कि इनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक तीव्रता का, स्वभावत:, आत्यंतिक बोध होता है।

अज्ञेय पर फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविज्ञान का सम्मिलित प्रभाव लक्षित होता है। किन्तु, ये प्रभाव कहीं भी आरोपित, ओढ़े हुये या अतिरिक्त जोड़ की तरह नहीं लगते, अपितु मानसिक संवेदना के रूप में एकाकार होकर सम्प्रेषित होते हैं। इसलिए डॉ० नगेन्द्र का यह अभिमत सर्वथा सही और युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि 'अज्ञेय जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ्रायड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आए ।'[1]

फ्रायड ने **'लिबिडो'** (Libido) अथवा 'काम-भावना' को मानव-प्रकृति के मूल प्रेरणा-स्रोत के रूप में गृहीत किया है। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ, अधिकांशतया इसी **'लिबिडो'** या **'काम-भावना'** की विकृत अथवा परिष्कृत क्रिया-प्रतिक्रियाओं की प्रतिरूप मात्र होती हैं। फ्रायड के अनुसार चेतन मन से अधिक महत्वपूर्ण होता है—अवचेतन और अचेतन मन। अवचेचन और अचेतन मन की अतल गहराई में ही मनुष्य का रहस्य अवस्थित होता है। इसलिए चारित्रिक विश्लेषण के लिए अवचेतन मन की परतों को अनावृत्त करके देखना-परखना आवश्यक-सा होता है।

फ्रायड के दो शिष्यों—एडलर और युंग ने इसके सिद्धान्त को संशोधित और परिवर्द्धित कर, अपने ढंग से विकसित किया। एडलर **'हीन-भावना'** को मनुष्य, विशेषकर बच्चों की मूल प्रेरक शक्ति मानता है। शैशव काल में जिस अभाव के कारण व्यक्ति की इच्छा दमित होती है, उसकी क्षति-पूर्ति करने के लिये वह सतत् प्रयत्नशील रहती है।

युंग **'जीवनेच्छा'** को मनुष्य की मूल प्रेरक शक्ति मानता है। मनुष्य अपने अस्तित्व और आत्म-प्रकाशन के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। साहित्य-सर्जन का स्थान उन प्रयत्नों में विशिष्ट है, क्योंकि साहित्य आत्माभिव्यक्ति का एक प्रमुख साधन है और आत्माभिव्यक्ति जीवनेच्छा का ही एक प्रतिरूप है। युंग भी अवचेतन मन को स्वीकार करता है, किन्तु व्यक्तिगत अवचेतन के साथ ही साथ सामूहिक अवचेतन को भी वह स्वीकार करता है।

1. डॉ० नगेन्द्र : विचार और विश्लेषण (प्रथम संस्करण), पृ० 63

इस प्रकार, फ्रायड, एडलर और युंग—तीनों ने मन के इस विभाजन को स्वीकार किया है तथा मन के इस अवचेतन भाग को व्यक्ति (और व्यक्तित्व) के लिए अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण घोषित किया है। व्यक्ति का चेतन मन अत्यन्त उथला है। गहराई उसमें नहीं होती, होती है अवचेतन और अचेतन मन में। मनुष्य की इच्छाएँ (ऐषणाएँ) अनन्त और असीम होती हैं। फिर भी, वह अपनी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है। लेकिन ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। जिन इच्छाओं की पूर्ति वास्तविक जगत अथवा चेतन मन में नहीं हो पाती, वे इच्छाएँ कुछ समय बाद व्यक्ति के अवचेतन अथवा उपचेतन मन में स्थानांतरित हो जाती हैं। विज्ञान का यह नियम है कि किसी भी वस्तु का नाश नहीं होता, केवल रूप बदलता है। अवचेतन मन में स्थानान्तरित उन दमित इच्छाओं अथवा वासनाओं का भी, अत: नाश नहीं होता—बल्कि किसी-न-किसी रूप में वे अपनी पूर्ति के लिए सचेष्ट रहती हैं। ध्यातव्य यह है कि ये दमित वासनाएँ व्यक्ति के अवचेतन मन में अपने अनुकूल ग्रन्थियों (Complexes) का निर्माण करती हैं। ये ग्रन्थियाँ, वस्तुत: बचपन से ही बनना प्रारम्भ हो जाती हैं। इसलिए बच्चों का जीवन, जो बाहर से देखने पर अत्यन्त सरल और सीधा-सादा लगता है, अत्यधिक जटिल और उलझा हुआ होता है। यही कारण है कि असामान्य व्यक्ति के मानसिक अध्ययन के लिए उसके अवचेतन और अचेतन मन के गह्वर में प्रक्षिप्त उसकी आदिम मनोग्रंथियों का अध्ययन 'Case history' के द्वारा करते हैं। इसका मूल कारण यह है कि व्यक्ति अपने वयस्क काल में अपने शैशव का ही विकसित रूप होता है। अत: 'Case history' के द्वारा मूल गन्थियों का ज्ञापन हो जाता है।

मानव-मन की कुछ ऐसी भी प्रबल इच्छाएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति, सामाजिक-नैतिक मान्यताओं के कारण न तो उसके चेतन मन में हो पाती है और न अचेतन मन में ही। कालान्तर में वे ही अतृप्त व दमित वासनाएँ (इच्छाएं) पुन: अव-चेतन-मन में चली जाती हैं। वहाँ भी वे स्थिर और निष्क्रिय नहीं होतीं, बल्कि अपनी पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं।'सेन्सर'—नैतिक संस्कार, लोक-मर्यादा तथा सामाजिक रीति-नीति के कारण ये दमित अथवा अतृप्त वास-नाएँ प्रत्यक्ष रूप से अपनी तृप्ति नहीं करतीं, बल्कि वेष-परिवर्तन अथवा छद्म रूप धारण कर वे अपनी पूर्ति की सतत् चेष्टा करती हैं। सपनों के माध्यम से मनुष्य ऐसी ही दमित वासनाओं की पूर्ति और तृप्ति करता है। इसे 'इच्छा-पूर्ति' का सिद्धान्त (Wish Fulfilment Theory) कहते हैं।

फ्रायड ने 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। इसका व्याप्ति-विस्तार मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन-तल है। फ्रायड के अनुसार शिशु आत्म-

रति में सुखानुभव की प्राप्ति करता है। बालकों का अंगूठा चूसना भी एक प्रकार की आत्मरति ही है। फ्रायड ने **'ऑडिपस काम्पलेक्स'** (पुत्र का माँ के प्रति आकर्षण) तथा **'इलेक्ट्रा कॉम्पलेक्स'** (पुत्री का पिता के प्रति आकर्षण) की कल्पना की है। एकाधिकार की भावना भी बच्चे के मन में प्रारम्भ से ही काम करती है। शिशु माँ का स्तन पकड़े रहता है, पिता या किसी के भी द्वारा उसके काम में हस्तक्षेप करने पर रोने की क्रिया द्वारा वह विरोध का भाव प्रदर्शित और व्यक्त करता है। फ्रायड ने साहित्यिक रचनाओं को विश्लेषित करते हुए, उनके मूल में भी रचनाकार की दमित वासनाओं के अस्तित्व को ही स्वीकार किया है। ये दमित वासनाएँ कल्पना तथा प्रतीक आदि कई छद्म रूपों में आत्म-प्रकाशन करती हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि व्यक्ति के चेतन मन की तुलना में अवचेतन और अचेतन मन अधिक महत्त्वपूर्ण है। अत: व्यक्तित्व का निर्धारण भी अवचेतन-अचेतन स्तर पर ही अधिक संगतिपूर्ण और विज्ञान-सम्मत होता और हो सकता है; क्योंकि अवचेतन-अचेतन व्यक्तित्व अत्यन्त जटिल, उलझा हुआ और असामान्य है।

फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषणवाद ने आधुनिक साहित्य को बहुत हद तक प्रभावित किया। साहित्य के क्षेत्र में इसका प्रभाव दुहरा पड़ा: सर्जन और विवेचन दोनों ही दृष्टियों से। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनोविश्लेषणवाद ने एक ओर जीवन के सत्यों और मूल्यों का सन्धान नये सिरे से किया तथा दूसरी ओर मानव-चरित्रों के पूर्व-स्वीकृत प्रतिमानों पर प्रश्न-चिह्न लगाकर, उनके अन्त: में स्थित नग्न वास्तविकता को अनावृत्त किया। मनोविश्लेषणवाद के कारण 'नये मूल्यों की खोज ने जो अनेक दिशाएँ ग्रहण कीं', अज्ञेय[1] के मतानुसार, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

1. सहज बोध बनाम बुद्धि—मन के विरुद्ध 'रक्त' का सहारा।

2. काम-सम्बन्धों के क्षेत्र में—'सेक्स' की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर-सम्बन्धी मानती है, न केवल सामाजिक बन्धन या व्रत बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' (डाइनैमिक कम्यूनिकेशन)।[2]

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार (विशेषत: अज्ञेय) मानव-चरित्र का उद्घाटन वैयक्तिक स्तर पर करते हैं। चारित्रिक उद्घाटन के लिए वे व्यक्ति-पात्रों

1. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 78-79
2. डी० एच० लॉरेन्स ने कहा है—'मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज रिलेशनशिप इज फिलियल, दैट इज, इट इज इनसेस्ट।'

के बाह्य कार्य-व्यापारों के मूल में, अवचेतन में दबी पड़ी मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हैं। ऐसे उपन्यासकार जीवन में यौन-सम्बन्धों और यौन-भावों को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। यही कारण है कि आत्म-संयम और आत्म-दमन के बजाय ये आत्म-प्रकाशन अथवा आत्माभिव्यक्ति पर अपना सम्पूर्ण बल देते हैं। फ्रायड से बहुविध प्रभावित उपन्यासकार डी० एच० लॉरेन्स के विचार से—"भावनाओं के स्तम्भन और आत्म-संयम के द्वारा अन्तःप्रवृत्तियों की तुष्टि, जिसे समाज माँगता है, मानव-जाति के लिए अहितकर है।" अज्ञेय पर फ्रायड के साथ ही-साथ डी०एच० लॉरेन्स का भी सीधा प्रभाव लक्षित होता है। यही कारण है कि वे अपने समर्थन में लॉरेन्स को अक्सर उद्धृत करते चलते हैं।

अज्ञेय ने अपनी तीनों ही औपन्यासिक कृतियों—**'शेखर : एक जीवनी'** (दो भाग), **'नदी के द्वीप'** और **'अपने-अपने अजनबी'** में मनोवैज्ञानिक संचेतना का प्रयोग, किसी-न-किसी रूप में अवश्य किया है। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग में कथा-नायक शेखर के शैशव तथा उसकी किशोरावस्था का मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है तथा दूसरे भाग में वयस्क शेखर के मानसिक संघर्ष तथा जटिल्य-बोध को उभारा गया है। इसमें शेखर के जीवन-निर्मायक तत्त्वों तथा उसके विकास के विविध परिदृश्यों का ही अंकन अधिक है।

वयस्क मनुष्य अपने शैशव का ही विकसित रूप होता है। बचपन के निर्मित संस्कार और भाव ही बाद में—प्रौढ़ावस्था में उसके जीवन का संचालन करते हैं। अतः फ्रायड तथा अन्य मनोविश्लेषणवादी चिन्तक शैशव-काल की प्रारम्भिक अवस्था के अध्ययन पर अधिकाधिक बल देते हैं। अज्ञेय की मान्यता भी इससे बिल्कुल अभिन्न है। वे कहते हैं : 'शिशु शायद जिस समय एक आकारहीन मांसपिण्ड भर होता है, तभी से वह एक अमिट छाप ग्रहण करने लगता है, जो उसको उत्पन्न करने वाली तात्कालिक शक्तियों की ही नहीं होती, वरन् उससे पहले हुई असंख्य घटनाओं और बाद में होने वाले असंख्य परिवर्तनों की भी होती है। यह छाप पड़ जाती है और पड़ी रहती है, व्यक्त नहीं होती, हमारी चेतना में नहीं आती—तब तक जब तक कि किसी आकस्मिक प्रेरणा की चोट से, किसी न समझ आने वाले आघात से वह स्पष्ट होकर लहर की तरह हमारे जीवन में नहीं फैल जाती···।"[1] इस प्रकार, अज्ञेय ने शिशु-मानस की महत्ता को बार-बार स्वीकार किया है। यही कारण है कि 'शेखर के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की अवस्था का चुनाव मनोविश्लेषणवादियों के मतानुसार ही

1. 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृष्ठ 48-49

(3 वर्ष) है, विशेषत: Melamia Klein (मलामिया क्लेन) के, जिन्होंने Fritz (फ्रिट्ज) का अध्ययन किया था।"[1] अज्ञेय ने इस तथ्य की स्वीकृति इन शब्दों में की है : 'जीवनी (शेखर : एक जीवनी)' के पहले भाग में शेखर अपने बाल्यकाल की छोटी-छोटी घटनाओं की भी जाँच कर रहा है। बाल्यकाल का अध्ययन स्वयं अपना महत्त्व रखता है, लेकिन 'जीवनी' में यह अध्ययन साध्य नहीं है, केवल उन सूत्रों को खोजने का साधन है, जो होते हैं प्रत्येक जीवन में, किन्तु जिन्हें देखने की शक्ति सदा नहीं होती—वह तो तब मिलती है जब किसी घटना की चोट से जीवन दीप्त हो उठता है, या तब जब यातना की तीव्रता से व्यक्ति ही सूक्ष्म दृष्टा बन जाता है।"[2] स्पष्ट है कि उपन्यासकार ने मनोविज्ञान का प्रयोग पात्रों के चारित्रिक विश्लेषण के साधन के रूप में किया है, न कि साध्य के रूप में। दूसरी बात यह है कि शेखर (व्यक्ति-पात्र) के माध्यम से उन्होंने मनुष्य के सामान्य मनोविज्ञान का प्रस्तुतीकरण भी अवान्तर रूप से किया है।

शेखर की अवस्था ज्यों-ज्यों विकसित होती है, त्यों-त्यों उसकी बाल-सुलभ जिज्ञासा भी बढ़ती जाती है। वह सामान्य बालकों से बिल्कुल भिन्न है, जिनकी जिजीविषा आरोपित सत्यों के कारण समाप्त हो जाती है। वह हर सत्य की गहराई में बैठना चाहता है, जीवन के प्रश्नों का मानसिक मंथन करना चाहता है तथा समस्याओं के अन्तरतस में उतरना चाहता है, किन्तु कहीं भी उसे समाधान और निदान नहीं मिलता। फलस्वरूप, उसका मानसिक व्यक्तित्व अनेक प्रकार की ग्रन्थियों से जकड़ कर अत्यन्त जटिल रूप धारण कर लेता है। स्वभावत: वय: प्राप्त शेखर अत्यधिक जटिल प्रतीत होता है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अत्यन्त बारीकी से उसकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म संवेदनाओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से डॉ० देवराज उपाध्याय का यह अभिमत सर्वथा सही प्रतीत होता है कि —'अज्ञेय का शेखर हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें शिशु-मानस को (फ्रायड के शब्दों में Pleasure Principle), आनन्द-प्रधान जीवन की झाँकियों को, उसके कौतूहल और जिज्ञासाओं को तथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर समाज तथा माता-पिता के व्यवहार अथवा यों कहिए कि Reality Principle के सम्पर्क से उत्पन्न दमन को, मानसिक ग्रन्थियों को तथा

1. डॉ० देवराज उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 166-67
2. शेखर : एक जीवनी; प्र० भा०, भूमिका, पृ० 8

उनके जीवन-व्यापी प्रभाव को कथा-क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया है।'[1]

शेखर स्वातन्त्र्य-चेतना के प्रति अत्यन्त जागरूक है। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' तो अपने आप में आनन्दमूलक होता है। वह वर्जनाओं की, सामाजिक नैतिकता की तथा आरोपित सत्यों की अर्गलाओं को पार करना चाहता और करता भी है। अपनी जिज्ञासा तथा अतृप्त कामना का परिशमन वह किसी भी मूल्य पर करना चाहता है। इससे उसे सुख और तृप्ति की अनुभूति होती है और यही उसे काम्य है। वह अतिरिक्त 'नैतिकता' को बिल्कुल नहीं मानता।

शेखर ने अपने अनुभव के आधार पर यह सीखा और समझा है कि अहन्ता, भय और सेक्स—ये तीन महती प्रेरणाएँ हैं, जो प्रत्येक मानव के जीवन का अनुशासन करती हैं। वस्तुतः यह 'समझ' शेखर की न होकर (उपन्यासकार) अज्ञेय की है। खैर, 'समझ' चाहे शेखर की हो या अज्ञेय की, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। किन्तु, है यह 'मनोविज्ञान' समर्थित ! उपन्यासकार की यह मान्यता सर्वथा मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है कि उपर्युक्त "तीनों शक्तियों का इतना शीघ्र उद्‌भास, जीवन की पहली-पहली स्मृतियों में उनका विद्‌यमान होना यह जताता है कि ये इतनी महत्त्वपूर्ण हैं कि मानव उन्हें अपनी मानवता के साथ ही पाता है, बाद की परिस्थिति या व्यवहार से नहीं···।"[2] शेखर की ये प्रेरणाएँ नैसर्गिक और जन्मजात हैं। इन तीनों मूल प्रेरणाओं के परिप्रेक्ष्य में ही वह अपने जीवन की घटनाओं का प्रत्यक्षीकरण और प्रत्याह्वन करता है। शेखर मूलतः अहंवादी है। यह अहं-भाव प्रारंभ से ही उसके आभ्यन्तर जीवन का स्वभाव और अंग बन चुका है। बचपन में तीन वर्ष की अवस्था में वह लेटर-बॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट अपने विजयी घोड़े पर बैठकर संसार को ललकार रहा हो। वह संसार से एक लेटर-बॉक्स की ऊँचाई भर बड़ा होकर दुनियाँ वालों की क्षुद्रता पर हँसता तथा दूसरों का मजाक उड़ाता है। डाकिए के मना करने पर, प्रतिशोध के तौर पर वह उस डाकिए का पाँव कुचलते हुए भाग जाता है तथा अपने आपमें विजयोल्लास का अनुभव करता है। इन्हीं सब क्रिया-कलापों के माध्यम से वह अपने अहं के उन्मद भाव की साधना करता है।

अहं के बाद तब उसका साक्षात्कार भय से वहाँ होता है, जहाँ अजायबघर में फिरने के क्रम में नकली बाघ को देखकर भाग खड़ा होता है फिर, 'वह डर

1. डॉ० देवराज उपाध्याय—आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, पृ० 162
2. शेखर : एक जीवनी—प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 49

उस समय दब गया, किन्तु उसने शिशु के मन में घर कर लिया। उस दिन के बाद उसे भयंकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। और कभी जागकर यदि पाता कि कमरे में अंधेरा है, तब तो वह अंधकार एक नहीं, असंख्य बाघों से सजीव हो उठता, एक-से-एक खूंखार···।' कालान्तर में उसने अपने अनुभव से जाना कि 'डर डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ हैं, केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।[1] इस आधार पर अब उसका ऐसा दृढ़ विश्वास बन गया कि 'जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकालकर बिखरा दो।' उसकी इस निश्चित धारणा ने उसे पूर्णतः विद्रोही और साहसी बना दिया है।

तीसरी स्मृति व प्रवृत्ति—उसमें अन्तर्निहित 'यौन-भाव' (सेक्स) से सम्बद्ध है। सिगमण्ड फ्रायड के यौन तथा आनन्दवादी सिद्धान्त (Libido—sex—Pleasure Principle) के अनुरूप ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। सम्पूर्ण जीवन में यौन भाव किसी-न-किसी रूप में व्याप्त अवश्य है। इसी भाव से सम्बद्ध एवं उद्भूत समस्याओं तथा मनोभावनाओं का संश्लेषण-विश्लेषण अज्ञेय ने अपने उपन्यास, विशेषकर 'शेखर : एक जीवनी' में किया है। शेखर जहाँ-कहीं भी किसी वर्जित अथवा निषेधात्मक दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन यौन-भाव (सेक्स) से आन्दोलित हो उठता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य, विशेषकर बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओं के प्रति अधिकाधिक मात्रा में जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा में निषेध अथवा वर्जनाएँ होती हैं, उसी अनुपात में बच्चे के मन में उस रहस्य की गहराई को अनावृत्त करने की तीव्र उत्कण्ठा भी जाग्रत होती है। शेखर पर यह मनोवैज्ञानिक सिद्धांत शत-प्रतिशत लागू होता है। मध्यम वर्गीय परिवारों की भाँति इसके (शेखर के) परिवार में भी यौन-सम्बन्धों की चर्चा निषिद्ध है। अतः उसका यौन-भाव कुंठित होकर 'ग्रंथि' का रूप धारण कर लेता है। फिर बाद में चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण आयाम है। इसके पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहंवादी है। वस्तुतः उसका यौन-भाव भी उसके अहं-भाव का रूप लेकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पुरुषों से सम्मान की आकांक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियों से प्रणय का आदान चाहता है—प्रदान नहीं। उसकी मान्यता है : "मुझे मूर्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्ति-पूजक

1. शेखर : एक जीवनी—प्र० भाग, पृ० 51-52

चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूँ, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं (शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, पृ० 144)। जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित होता है, उस पर शेखर संपूर्ण रूप से अपना आधिपत्य या कहें, **एकाधिकार** चाहता है। एकाधिकार अथवा एकाधिपत्य की उसकी यह प्रवृत्ति भी मनोविज्ञान-समर्थित है।

शेखर के यौन-भाव (Sex) का विकास तीन बिन्दुओं पर दिखाई पड़ता है : आत्मरति, समलिंगी रति तथा विपरीत लिंगीरति। उसमें आत्मरति मुख्य रूप से वहाँ दिखाई पड़ती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म' पक्ष प्रबल होकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी पूजा करवाना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जाग्रत होती है—अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। कुमार से वह कहता है—"कुमार, बताओ, तुम मुझे अपने से बड़े क्यों नहीं लगते ? मुझे क्यों लगता है कि तुम छोटे हो, और मैं जैसे तुम्हारा संरक्षक, तुम्हारा गार्डियन (दैवीरक्षक) हूं, और तुम मुझ पर निर्भर करते हो ?"[1] बाद में शेखर उस पर एकाधिपत्य स्थापित करना चाहता है, जिसकी परिणति होती है—शारीरिक हाव-भाव, अंग-चेष्टा या चुम्बन आदि में। वह कहता है : 'कुमार, यदि तुम मेरे अतिरिक्त और किसी के हुए, तो मैं तुम्हारा गला घोट दूंगा।... (इतना ही नहीं) शेखर ने कुमार को अपनी ओर खींचकर उसका मुँह चूम लिया। लेकिन साथ ही उसके मन में एक शंका हुई—स्वर में यह भय क्यों ? और उसे यह भी लगा, कि जो कुछ उसकी ओर से है, दूसरी ओर से वह नहीं है, जैसे झील में उसका प्रतिबिम्बमात्र, जिसमें कम्पन है, लेकिन कम्पन जीवन का नहीं, माया का।"[2]

शेखर के हृदय में विपरीत लिंगीरति के भावों का उद्रेक उन समस्त नारियों के सन्दर्भ में होता है, जो कोई उसके सम्पर्क में आती है। यह सब उसके भावों का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और 'सहज विकास' का स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी मौसेरी बहन—शशि सुन्दर, उन्मद तथा उसके व्यक्तित्व की पूरक प्रतीत होती है।

1. 'शेखर : एक जीवनी', : प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 201-202
2. वही, पृ० 203

अज्ञेय ने शेखर में क्रांति अथवा विद्रोह के उपकरण के रूप में 'विराट्-व्यापक प्रेम की सामर्थ्य' तथा 'एक तटस्थ सात्विक घृणा की क्षमता'[1] को विशेष उपादेय और सक्रिय माना है। लेखक का यह विचार सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है कि प्रेम और घृणा 'कभी अलग नहीं किये जा सकते; जहाँ प्रेम जितना उग्र होता है, वहाँ वैसी ही तीखी घृणा भी होती है।'[2] इन दोनों विशिष्ट प्रवृत्तियों के आसंग में ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास, प्रत्येक स्तर पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। लेखक के अनुसार, सच तो बल्कि यह है कि 'शेखर के जीवन को घृणा और वासना—इन्हीं दो शक्तियों ने संभव बनाया—घृणा ने ही उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ खोकर भी संसार को ललकारे और वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।'[3]

शेखर के व्यक्तित्व का विकास प्रेम, घृणा और वासना (जिसे अज्ञेय ने **'मन के विरुद्ध रक्त का सहारा'** कहा है)—तीन बिन्दुओं पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमशः उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और सबसे बढ़कर शशि आदि के सन्दर्भ में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है। शेखर के मन में अपनी माँ के प्रति घृणा का भाव अत्यन्त सघन है। इसका मूल कारण यह है कि उसे अपनी माँ की ओर से अपेक्षित स्नेह न मिलकर बार-बार डाँट-फटकार और अविश्वास का प्रस्ताव ही मिलता रहा है। जो स्नेह उसे मिलता है, वह औसत कोटि का है, किन्तु उसकी आकांक्षा सदैव विशिष्ट स्नेह-पात्र बने रहने की है। स्नेह-वैशिष्ट्य के अभाव के कारण उसका मन माँ के प्रति विमुख और विद्रोही हो जाता है। फलतः चेतन-अवचेतन रूप से वह अपनी माँ को आदर-भाव नहीं प्रदान कर पाता। उसके विचार में 'पिता आवेश में आततायी और माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय है। पिता की क्रोध-वर्षा के बावजूद वह सखा-भाव का अनुबोधन करता है किन्तु माँ जब कुछ नहीं कहती थी तब उसे लगता था कि वह मीठी आँच पर पकाया जा रहा है।[4] पिटने को तो अनेक बार वह (अपनी माँ के साथ-ही-साथ) अपने पिता से भी पिटता है। इसके बावजूद वह उन्हें 'पूजता' है जबकि बार-बार वह अपनी माँ के प्रति विद्रोह-भाव व्यक्त करता है। इन कारणों का स्पष्टीकरण लेखक ने इन शब्दों में किया है : "माँ की ओर आकर्षित पुत्र और पिता की ओर आकर्षित कन्या साधारणता

1. 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 29
2. वही, पृ० 31
3. वही, पृ० 181
4. वही, पृ० 121

की ओर, सामान्यता की ओर जाते हैं, और पिता की ओर आकृष्ट पुत्र, माता की ओर आकृष्ट कन्या असाधारण होते हैं। पहली श्रेणी में मिलेंगे सीधेसादे शांत आदमी, सामान्य स्त्रियाँ, जिनमें कोई खास बुराई नहीं है, जो साधारणतया प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं, जो जीते हैं, रहते हैं और मर जाते हैं, दूसरी में मिलेंगे प्रतिभावान लेखक और कवि, देश और संसार को बदल देने वाले सुधारक, क्रांतिकारी, डाकू, जुआरी, पतित-से-पतित मानवता के प्रेत अच्छे या बुरे, उनके लिए साधारणता नहीं है, वे सुलग नहीं सकते, फट ही सकते हैं···। शेखर साधारण नहीं था। और वह अपने पिता का उपासक था।"[1] वस्तुतः यही वह मूल भाव है, जिसके आधार पर शेखर के व्यक्तित्व का विकास होता है।

प्रेम और वासना—जीवन के दो ऐसे निर्मायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः जीवन-यात्रा के वे ही पाथेय हैं, जिसका जीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारंभ में उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है किन्तु बाद में वह प्रेम नैतिक समस्या का रूप ले लेता है। विचारक कथाकार अज्ञेय नये मूल्यों के सन्दर्भ में 'सेक्स' की नयी परिभाषा गढ़ते हैं। वे न तो इसे निरा शरीर-सम्बन्धी मानते हैं और न केवल सामाजिक बंधन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील सम्पृक्त भाव' ('डाइनैमिक कम्यूनिकेशन') के रूप में ग्रहण करते हैं।

प्रेम और वासना में आत्यन्तिक नैकट्य होता है। फ्रायड के Pleasure Principle के अनुसार, बिना वासना (सेक्स) के प्रेम का अस्तित्व निराधार और निरर्थक है। प्रत्येक प्रेम में किसी-न-किसी रूप में वासना का अंश और अस्तित्व अवश्य होता है। वस्तुतः जिसे हम सात्विक प्रेम की संज्ञा से अभिहित करते हैं, वह भी वासना से सर्वथा कटा हुआ नहीं होता, अपितु इसी का उदात्त रूप (सब्लाइम फॉर्म) होता है। बहरहाल, शेखर के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त शत-प्रतिशत सही प्रतीत होता है।

विद्रोही दीखने वाला शेखर वासना अथवा यौन-भावना (सेक्स) की ओर अतिशय ढंग से प्रवृत्त है। विद्रोही होना उसकी जीवन-प्रणाली है, जो उसकी अतृप्त यौन-भावना की तृप्ति व पूर्ति में सहायक होती है। जहाँ-कहीं उसकी काम-भावना बाधित होती है, वहाँ स्वभावतः और सहज रूप से वह विद्रोह कर उठता है। किन्तु ध्यातव्य यह है कि और चाहे जिस किसी के विरुद्ध वह विद्रोह कर ले, किन्तु अपने सम्पर्क में आने वाली तमाम नारियों—चाहे वह सरस्वती

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 123-24

हो या शशि, शारदा हो अथवा शांति, सबके प्रति वह घोर मैत्रीपूर्ण आचरण करता है। उसकी सगी बहन सरस्वती उसके लिए पहले 'सरस्वती' से 'बहन' और फिर 'बहन' से 'सरस' बन जाती है। शेखर के मन में सरस्वती के प्रति जो ऐक्य-भाव है, वह अत्यन्त उन्मद और तीव्र है। 'शेखर को लगता था कि जिस प्रकार जो वांछित है, प्रिय है और समझने और सहानुभूति करने वाला है, उसका पूञ्जीभूत रूप सरस्वती है।'[1] शेखर के मन में सरस्वती के प्रति अनुभूति की तीखी ऐन्द्रिकता का प्रवेग है, प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष ही सही। एक दिन 'शेखर ने अपने दोनों हाथों से बड़े जोर से उसका (सरस्वती का) हाथ पकड़कर अपनी आँखों पर दबा लिया।'[2]—इससे उसे सुख की अनुभूति हुई, जो वास्तव में उसकी यौन-भावना (सेक्स) की ही परोक्ष और अवान्तर रूप से संतृप्ति है। शेखर जहाँ शारदा की आँखें मूँदकर उसके सूखे केशों को सूँघता है, वहाँ भी प्रकारान्तर से उसकी दमित यौन-भावना की ही तुष्टि होती है। शान्ति के कण्ठ के स्पर्शमात्र से वह सन्तुष्ट हो जाता है। शेखर के जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली है—शशि। वस्तुतः वही वह विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चहुँ ओर शेखर का व्यक्तित्व अधिष्ठित व परिचालित होता है। इस तथ्य की स्वीकृति वह इन शब्दों में करता है : 'मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे (शशि के) होने को लेकर है।' शशि रमेश की परिणीता पत्नी है और शेखर की प्रेयसी। रिश्ते में वह शेखर की मौसेरी बहन है, फिर भी अपने हृदय का सारा संचित प्यार शेखर के लिए उँडेल देती है। इसके लिए उसे क्या सब नहीं करना पड़ा ? घर-बार छोड़ा, पति का त्याग किया और यहाँ तक कि शेखर के निर्माण के खातिर उसने स्वयं का विसर्जन किया। 'शशि, तुम क्या हो ?—शेखर के इस प्रश्न के उत्तर में वह कहती हैं : "· मैं विवाहिता हूं। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर, तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ।···जो मेरा मैं है· शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूं—और 'अमूर्त्त' होकर मैं —तुम्हारा अपना आप हूं जिसे तुम नाम नहीं दोगे।"[3] शशि और शेखर के इस पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध को

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, पृ० 143
2. वही, पृ० 147
3. शेखर : एक जीवनी, भाग, दो, पृष्ठ 166

'**इन्सैस्ट बैरियर**'[1] के नाम से अभिहित किया जा सकता है। '**इन्सैस्ट बैरियर**' के कारण वासना का शमन ऊपर से दिखाई देता है किन्तु वह अचेतन में पहुँच जाती है और चेतन में वे दोनों भाई-बहन बने रहते हैं—पवित्र रहते हैं, किन्तु अचेतन में उसकी वासना निरन्तर संघर्ष करती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि दोनों में से चैन किसी को नहीं मिलता। वह फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धांत[2] है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ही वह मूल संवेदना और प्रेरणा है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आन्दोलित और परिचालित करती है। द्रष्टा शेखर का भी, भोक्ता शेखर के सम्बन्ध में यही अभिमत है कि 'यदि स्त्रियाँ न होतीं, तो शायद वह जी नहीं सकता।'[3] कुलमिलाकर, ऐसा लगता है कि उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के माध्यम से व्यक्ति के बाल-मनोविज्ञान से लेकर सामान्य—असामान्य मनोविज्ञान तक को रूपायित करने का प्रयास किय है। पूरे उपन्यास में मनोविज्ञानिकता कहीं भी आरोपित अथवा थोपी हुई नहीं लगती, बल्कि चारित्रिक विश्लेषण की चारुता के भीतर से पारद-रेखा की तरह परिदर्शित होती है।

सिगमण्ड फ्रायड ने मानव के अवचेतन-अचेतन मन के अध्ययन के क्रम में मानवी **कल्पना, स्मृति तथा स्वप्न** का भी विशद् विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। फ्रायडवादी-कथाकार अज्ञेय ने भी 'शेखर : एक जीवनी' में

1. (क) अज्ञेय—'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ 79 (लॉरेन्स के उद्धरण का अन्तिम पद)
   (ख) डॉ० मक्खनलाल शर्मा—'हिन्दी-उपन्यास : सिद्धान्त और समीक्षा', पृष्ठ 169
2. 'An incestuous love strikes repression, to emotional and the sexual components are separated, and the only emotional component persist in consciousness, owing to its apparent de-sexualization. The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former, but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re-established."
   (Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud' Vol. I : Dalbez, P. 134)
3. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण ब966, पृष्ठ ब97

उनका (**कल्पना, स्मृति और स्वप्न का**) प्रासंगिक नियोजन किया है। मनोविज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य, विशेषकर बच्चे कल्पना के माध्यम से अपने अवचेतन की दमित इच्छाओं की पूर्त्ति के आनन्द का अनुभव करते हैं। कल्पना के सहारे बच्चे अपने अभावों की मानसिक परितृप्ति करते हैं। बालकों की एक प्रवृत्ति होती है कि निर्जीव पदार्थों को भी वे सजीव-रूप में ग्रहण करते हैं। इसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में सर्वात्मवादी चिन्तन (Animistic Thinking) कहते हैं। शेखर 'लेटर बॉक्स' पर घोड़े की तरह सवार होता और उसके अनुकूल मज़ा लेता है। कभी वह केले के पत्तों को नाव के रूप में प्रयुक्त करता है। उसके अन्दर ये सभी क्रिया-कलाप 'सर्वात्मवादी चिन्तन' के ही परिणाम हैं।

स्मृति का सम्बन्ध अतीत से होता है। कल्पना-जीवी व्यक्ति स्वभावतः अतीत की स्मृतियों का प्रत्याह्वान (Recall) बार-बार करता और करना चाहता है। इससे उसे विशेष प्रकार के आनन्द-भाव की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्मृतियों के सहारे, व्यापक अर्थों में वह अपनी यौन-भावना की संपूर्ति का प्रयत्न करता है। शेखर के साथ यह बात बहुत हद तक लागू होती है। उसके मन में सरस्वती के प्रति यौन-भावनाओं का अंकुर बिल्कुल प्रारंभ से ही उपलब्ध होता है। सरस्वती के साथ उसके बीते हुए क्षण —रसासिक्त क्षण, तथा उसकी स्मृति में उभरने वाले चित्रों में उसकी (शेखर की) ऐन्द्रिकता, विशेष स्पष्टता के साथ व्यक्त होती है, "चाँद एक कन्या है, और यह पृथ्वी का काला सौदर्न्य उसका आवरण। किन्तु चाँद इतना सुन्दर है कि इस आवरण को उसे ढक रखने का अधिकार नहीं है, इसीलिए चाँद ने उसे उतार फेंका और निरावरण होकर क्षितिज के ऊपर आ गया है। और वह सौन्दर्य बिखरकर उस परित्यक्त आवरण को भी कितना सुन्दर बनाये डालता है।···अवश्य ही उस दिन उसे इस बात का अप्रत्यक्ष ज्ञान हो गया था कि सौन्दर्य कितना नग्न और नग्नता कितनी सुन्दर है।'[1]

कल्पना कभी-कभार इतना वायवी और निराधार होती है कि उसका दिग्विस्तार '**दिवा-स्वप्न**' (day-dream) तक हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य केवल निष्क्रिय कल्पनाओं का महल खड़ा करता है लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वैसी कल्पना या वैसे दिवा-स्वप्नों का कोई अर्थ नहीं होता। अर्थ अवश्य होता है, किन्तु व्यक्ति के अवचेतन मन के वे प्रतीक मात्र ही होते हैं। कभी-कभी तो ये दिवा-स्वप्न अथवा एतादृश कल्पना जीवन-निर्माण और विकास

1. शेखर : एक जीवनी, प्र० भा०, संस्करण 1966, पृ० 23

में अत्यन्त सहायक भी सिद्ध होते हैं। शेखर अत्यधिक कल्पना-जीवी है। प्रसंग: पटने (बिहार) का है। शेखर केले के तीन स्तम्भों के सहारे एक नाव बनाकर गंगा के संतरण करने के क्रम में कल्पना-रत है कि 'वह उस सुदूर देश में जा रहा है, जहाँ गंगा जाती है, जहाँ वह समुद्र में मिल जाती है, जहाँ सूर्यास्त के सोने का टापू है और जहाँ इन्हीं नीलिमा में घुल जाने वाले बादलों से बने हुए सूत के वस्त्र पहनने वाली राजकन्या रहती है···शेखर उसके पास जाएगा, और उससे कहेगा, मैं शेखर हूँ, मैं बन्धनों के देश से आया हूँ, और वह उसे बिठा लेगी, और कहेगी, यहाँ तुम अबाध हो—उस सिरिस के फूलों के महल में तुम रहोगे और जो चाहे करोगे···

पर शायद राजकन्या उसे नहीं देखेगी—वह बन्धनों के देश के मामूली लड़के से क्यों मिलने लगी ?

वहाँ और भी तो लोग होंगे और भी कन्याएँ होंगी, उस बाधाहीनता के देश में कोई भी क्यों राजकन्या से कम होगी ?

शेखर ने आँखें बन्द कर लीं···।[1]

अगर उसकी इस दिवा-स्वप्निल कल्पना का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि वह बन्धनों से निकल कर मुक्ति का आकांक्षी और अन्वेषी है। उसका अभिप्राय यह नहीं कि वह पलायनवादी है। वस्तुत: वह विद्रोही है—परम्परा के प्रति, सामाजिक जड़ता के प्रति और सबसे बढ़कर मन के विरोधी भावों और बन्धनों के प्रति। अत: समग्र रूप से वह स्वातन्त्र्य चेतना का अन्वेषी और प्रयोक्ता ठहरता है।

शेखर आगे भी ऐसी ही कल्पनाओं में निरत है। "वह सोचा करता है कि क्यों नहीं कोई ऐसी घटना होती, जिससे वह टापू कहीं निकट आ जाए। जब वह सैर करने जाता है, तब इतनी गाड़ियाँ उसके पास से होकर जाती हैं, क्यों नहीं किसी में से वह राजकन्या झाँककर कहती, "शेखर, चलो मेरे टापू में, जहाँ बाधा नहीं है ?" राजकन्या न सही, जब वह मैदान में घूम रहा होता है, तब वहाँ इतनी लड़कियाँ खेल रही होती हैं, क्यों नहीं उनमें ही कोई छिपी हुई टापू-वासिनी आकर उसे बुलाती, 'आओ, तुम हमारे अबाध खेल में शामिल होओ ?' इतना भी न सही, क्यों नहीं जब वह राह चलता ठोकर खाता है तब कोई इसी संसार की लड़की उसके पास आकर स्नेह से कहती, 'आओ शेखर, मैं और कुछ

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, पृष्ठ 109

नहीं कर सकती, पर तुम्हारे इस एक-रस जीवन में कुछ नयापन ला सकती हूँ।' या सिर्फ इतना ही उससे पूछती, 'चोट बहुत तो नहीं लग गयी ?'[1]

स्पष्ट है कि शेखर के अवचेतन में जो दमित वासना और मसृण स्नेह की अतृप्त आकांक्षा है, उन्हीं की परितृप्ति वह अपनी दिवा-स्वप्निल कल्पनाओं के माध्यम से करता और करना चाहता है। उसके जीवन में ऐसी कल्पना का उद्रेक शृंखलित रूप में होता रहता है। इस कथन की पुष्टि लेखक की इन पंक्तियों से हो जाती है : 'वह छिपकर सुन्दर कागज पर रंग-बिरंगी फूल-पत्तियाँ बनाता और उनसे घिरे हुए स्थान में पत्र लिखता। किसे ! वह स्वयं नहीं जानता। लेकिन अपने हृदय की सारी भूख वह उस पत्र में भर देता और उस अज्ञात के स्वागत की सारी विह्वलता···वह लिखता, 'ओ कल्पित, ओ अज्ञात, जिसे मैं मन में भी नहीं देख पाता, तुम इस पत्र को पढ़ोगी और समझोगी ? मैं शेखर हूँ, मैं अकेला हूँ, मैं जाने कब से तुम्हें ढूंढ रहा हूँ, तुम्हारी ही प्रतीक्षा में हूँ, तुम्हारे ही लिए हूँ। तुम दिव्य-लोक में हो लेकिन क्या दिव्य-लोक भी तुम्हें उसी तरह माँगता है जिस तरह मैं ? ओ अज्ञेय, ओ अकल्पनीय ![2] उसके इस दिवा-स्वप्न से यह बात पूरी तरह साफ हो जाती है कि शेखर का अवचेतम मन दमित यौन-भाव से ग्रस्त है और बार-बार वह स्नेह के किसी कमनीय आश्रय की आकांक्षा में तल्लीन रहता है।

फ्रायड के मतानुसार स्वप्न—निशा-स्वप्न **सार्थक और साभिप्राय होते हैं**। मनुष्य की जो इच्छाएँ चेतन मन में तृप्त नहीं हो पातीं, वे ही दमित और कुण्ठित होकर अवचेतन में छद्म रूप धारण कर स्वप्नों के माध्यम से व्यक्त और तृप्त होती हैं। इसीलिए **प्रतीकों** (Symbol) के रूप में उनका विश्लेषण किया जाता है। फ्रायड ने स्वप्नों के विश्लेषण के लिए अनेकानेक प्रतीकार्थों का अन्वेषण और प्रयोग किया है। सपनों के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसकी मनोवृत्ति तथा विचार-धारा को आसानी से समझा जा सकता है; क्योंकि सपने एक तो कुंठित मन के स्थानापन्न होते हैं। और दूसरे, मनोभावों के प्रतीकार्थ। उपन्यास-कार अज्ञेय ने दिवा-स्वप्न के अतिरिक्त निशा-स्वप्न का भी आयोजन तथा उद्‌घाटन इस उपन्यास में शेखर के आभ्यन्तर मन के चित्रण व विश्लेषण के क्रम में किया है। इससे उसके व्यक्तित्व की अन्विति को समझने में काफी सहूलियत होती है। उपन्यासकार ने शेखर के एक स्वप्न का उपस्थापन ('शेखर : एक जीवनी' प्र० भा०, पृष्ठ 139-140) यूँ किया है :—

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, पृष्ठ 110-111
2. वही, संस्करण 966, पृ० 111

"रात को शेखर ने एक स्वप्न देखा।

एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कड़कड़ाती हुई धूप।

शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है, भागा जा रहा है···सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह वैसे भागा जा रहा है।

और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नहीं मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुड़कर देखता है, तो पीछे बहुत-से ऊँटों के पैरों से उड़ी धूल उसे दीखती है···

तीसरा पहर। धूप कम नहीं हुई, और भी तीखी हो गई जान पड़ती है। और शेखर भागता जा रहा है, और पीछे वह 'कुछ' भी बढ़ा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेब के वृक्षों के बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाड़ लगी हुई है, जिसमें कहीं-कहीं बिले हैं, और कहीं-कहीं आयरिस जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतर कर, बाड़ पार करके बाग में घुस जाता है।

बाग में वृक्ष फूलों से लदे हुए हैं। इतने अधिक लदे हैं कि सारी जमीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है···

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड़ के नीचे फूलों की शैय्या पर लेटता है और सो जाता है···

सन्ध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पड़ रही है, और सेब के वृक्ष मानों जंगली गुलाब के हो गए हैं—प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है···

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतंक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने बाग घेर लिया, और उसमें प्रवेश करने की ताक में है और उसके ऊंटों के पैरों से उड़ी धूल चारों ओर छायी हुई है, उससे सारा आकाश भरा जा रहा है···

शेखर उठकर एक ओर को भागता है, बाग में से निकल जाता है। रास्ता, चढ़ाई। शेखर चढ़ता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे···किसी खोज में, यद्यपि वह नहीं जानता कि किस वस्तु की खोज···

सन्ध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चला जा रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कहीं दीखता नहीं। हाँ, दूर कहीं जैसे झरने का रव हो रहा है···

एक चट्टान के ऊपर चढ़कर शेखर आगे देखता है, और एकाएक रुक जाता है।

सामने, नीचे छहराता हुआ एक पहाड़ी झरना बह रहा है, शुभ्र, स्वच्छ, निर्मल···

शेखर घुटने टेककर बैठता है, और हाथ टेककर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे वन्य पशु पानी पीने के लिए करते हैं। पर पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नहीं···

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है। वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है, यद्यपि अभी तक वहाँ नहीं थी और दोनों प्यासी आँखों से पानी की ओर देख रहे हैं···

शेखर देखता है, पानी के मध्य में प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खड़ा है। बहुत बड़ा—लिपटी हुई-सी एक ही बड़ी सफेद पत्ती, जिसके बीचोंबीच में एक तपे सोने-से वर्ण की एक डण्डी (Pistil) है।

और देखते-देखते एक दिन शशि उसके ऊपर छा जाती है और वह जानता है कि यही खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था और वह शान्ति इतनी मधुर है कि शेखर को रोमांच हो आता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड़ लेता है···

वह जाग पड़ा। **"स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था कि शेखर ने हाथ बढ़ाया कि सरस्वती का हाथ पकड़े। वह उसने नहीं पाया।"**

शेखर के उपर्युक्त इस स्वप्न का निहितार्थ अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है। शेखर के मन में अपनी बहन सरस्वती (जो उसे अब 'सरस' लगने लगी है) के प्रति जो दमित काम वासना है, उसी की क्षति-पूर्ति वह स्वप्नों के माध्यम से करता और करना चाहता है। इस प्रकार उसके (शेखर के) व्यक्तित्व की अन्विति को समझने-बूझने में स्वप्न-मनोविश्लेषण काफी सहायक सिद्ध होता है। अगर उसके सपनों का नियोजन या चित्रण उपन्यासकार नहीं करता तो स्यात् शेखर का आभ्यन्तर चरित्र इतना उजागर न हो पाता। स्वप्न-मनोभूमिका के कारण, एक ओर, उसके अतीत और वर्त्तमान का उद्घाटन व चित्रण हो सका है तो दूसरी ओर, उसका भविष्य संभाव्य बन पाया है।

इस प्रकार, ऊपर के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार ने **'शेखर : एक जीवनी'** में एकाधिक प्रसंगों और स्थलों में मनोवैज्ञानिक

विशेषत:, फ्रायडीय मान्यताओं का कथात्मक प्रयोग किया है। ये प्रयोग आरोपित न होकर सहजता के वाचक प्रतीत होते हैं।

अज्ञेय के दूसरे उपन्यास **'नदी के द्वीप'** में भी मनोवैज्ञानिक संचेतना अत्यधिक संश्लिष्ट और सक्रिय है। इसमें भी मूल रूप से फ्रायड के Pleasure Principle को ही औपन्यासिक अभिव्यक्ति मिली है। इसका एकमात्र कारण यह है कि यौन-भाव ('सेक्स') ही वह विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु है, जिसके चतुर्दिक इसका कथानक आवर्तित होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' की मूल समस्या यौन-भावना ('सेक्स') है, जो फ्रायडीय मनोविज्ञान की प्रमुख मान्यताओं पर आधृत है। प्रथम उपन्यास **'शेखर : एक जीवनी'** में भी यौन-भावना की ही प्रधानता है, किन्तु वहाँ वह 'शेखर' के चरित्रगत् निर्माण तथा विकास की प्रेरक शक्ति के रूप में प्रयुक्त है, जबकि 'नदी के द्वीप' में विकसित एवं वयस्क चरित्र की मनोवृत्ति के रूप में इसका प्रयोग और विश्लेषण किया गया है, वह भी आधुनिक परिवेश के जटिल परिप्रेक्ष्य में। दूसरी बात यह है कि 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा इस दूसरे उपन्यास में घटनाओं की शृंखला का चयन कम, पात्रों की मन:स्थितियों का विश्लेषण और आकलन अधिक है। इस उपन्यास में मुख्य पात्र हैं चार : भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव। इसमें सबके-सब, किसी-न-किसी रूप में, यौन-भावना ('सेक्स') से ग्रस्त और पीड़ित हैं। भुवन वैज्ञानिक होने के बावजूद अत्यन्त भावुक, संवेदनशील, अत: कलात्मक प्रकृति और रुचि का व्यक्ति है। नारी के प्रति उसके मन में अत्यधिक सहज दुर्बलता है। रेखा सुशिक्षित और संवेदनशील अधुनिका नारी है, जिसका अपने वैधानिक पति—हेमेन्द्र के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। आत्यन्तिक रूप से वह यौन-भावना से पीड़ित है। प्रारम्भ में वह भुवन के प्रति प्रवृत्त और समर्पित होती है, फिर बाद में डॉ० रमेशचन्द्र के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करती है। गौरा पहले भुवन की शिष्या और पुन: आगे चलकर उसकी प्रेमिका की संज्ञा ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार, अतृप्त काम-वासना अथवा भावना से उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व आहत है। ठीक ऐसी ही स्थिति चन्द्रमाधव की भी है। वह अपनी विवाहिता पत्नी से दुराव पालता है तथा रेखा और गौरा से अपनी अतृप्त वासना अथवा काम-भावना की परितुष्टि के लिए निरन्तर प्रयास करता है। अत: इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास में सर्वत्र यौन-भाव (सेक्स) तथा उससे उद्भूत रुग्ण कुण्ठाओं, जटिल संवेदनाओं तथा दर्द की आकुल अनुभूतियों एवं मन:स्थितियों को समग्रत: विश्लेषित किया गया है। इसके लिए अज्ञेय को नये शिल्प की तलाश भी काफी करनी पड़ी है। यही कारण है कि प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में उन्होंने अपने 'कथ्य' को मनोवैज्ञानिकता से तराश कर नये शिल्पों के

सुनहरे आवरण में प्रस्तुत किया है। अत: विवेच्य उपन्यास के प्रायोगिक शिल्प का भी रंग बिल्कुल अकेला और अलग है।

'अपने-अपने अजनबी' में मनोविश्लेषणवाद का प्रयोग अत्यन्त सूक्ष्म रूप में किया गया है। इसमें पात्रों अथवा चरित्रों के आभ्यन्तर मन का विश्लेषण अत्यन्त बारीकी से किया गया है। पात्रों की मन:स्थितियों और उनके मानसिक तनावों के विश्लेषण के सहारे ही इसकी लघु कथा आगे की ओर रेंगती चलती है। सेल्मा के मन में स्थित जीवन के प्रति एक सहज ऊब, निराशा, कुण्ठा और अवसाद के भावों को मनोविश्लेषित किया गया है और ठीक उसी के समानान्तर योके की हीन-भावना, कुण्ठा, संत्रास और मानसिक तनाव को भी सम्प्रेषित करने का प्रयास किया गया है। इस उपन्यास में चरित्र-विश्लेषण के भीतर से मनोवैज्ञानिकता छलछला आती है, न कि मनोविज्ञान के शुष्क सिद्धान्तों के आलोक में पात्रों का शील-निरूपण या उनका गढ़न किया गया है।

स्पष्ट है कि अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में कहीं भी मनोविज्ञान को आरोपित नहीं किया है, बल्कि चारित्रिक निर्माण की प्रक्रिया के सहारे मनोवैज्ञानिक उपपत्तियां स्वयं उद्भूत होती चली हैं। इनके उपन्यासों का 'वस्तु'-तत्व, चूंकि मानवी भावनाओं, संवेदनाओं और तत्त्वों से संश्लिष्ट है, अत: कथन-प्रणाली (शिल्प) में भी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशीलता स्वाभाविक तौर पर उभरकर प्रत्यक्ष होती है। दूसरी बात यह है कि अज्ञेय ने व्यक्ति-पात्रों का चयन, समाज से विशृंखलित एक इकाई के रूप में किया है। अत: उनके सम्पूर्ण उपन्यास व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के प्रस्तोता और व्यञ्जक बन गए हैं। यहाँ एक बात और भी विशेष रूप से कथनीय यह है कि इनके उपन्यासों में मानव-मन की जिन मूल-वृत्तियों (Instincts) का आकलन किया गया है, वे मूल-प्रवृत्तियाँ एक व्यक्ति के होने के साथ ही हमारी—आपकी और सबकी होती हैं। अत: ये व्यक्ति अलग-अलग इकाई होते हुए भी अपने-आप में समष्टि के वाचक होते हैं। यही कारण है कि अज्ञेय व्यक्ति (-मन) की आन्तरिक सीढ़ियों के सहारे समाज की गहराई में पैठते हैं और फिर उसका सही-सही चित्र प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि इनके उपन्यासों में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो मनोविज्ञान-समर्थित, अत: सार्थक न हो। इस प्रकार, इनके उपन्यासों की मनोवैज्ञानिक संचेतना अत्यधिक सशक्त, संश्लिष्ट, सक्रिय और सार्थक ठहरती है। ●●

4

अज्ञेय के उपन्यास

शिल्प-संधान

अज्ञेय के समस्त उपन्यास प्रायोगिक अन्वेषण के सर्जनात्मक परिणाम हैं। इनके औपन्यासिक प्रयोग, भाव ('वस्तु') और शिल्प (उपस्थापन, शैली या विधि) दोनों ही दृष्टियों से परम्परा-मुक्त और सही अर्थों में आधुनिक हैं। इनका औपन्यासिक कथ्य कथात्मक स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्म भाव-चेतना का विद्रोह है, अतः सूक्ष्म भाव के निरूपण के लिए इन्होंने तदनुरूप नये शिल्पों का संधान किया है। अतः इनके शिल्प 'वस्तु' के पूरक तथा इनकी भावात्मक चेतना, शिल्प की आधार-रेखा के रूप में प्रयुक्त हैं। वस्तुतः अज्ञेय के औपन्यासिक शिल्प व्यंग्य-विन्यास के रूप में व्यस्त हैं। इनके उपन्यासों का प्रतिपाद्य मुख्यतः व्यक्ति-चरित्र की बारीकियों का उद्‌घाटन और निरूपण करना है। स्वभावतः इनकी उपस्थापनविधि में भी तदनुकूल सूक्ष्मता (और जटिलता) परिलक्षित होती है। इनके औपन्यासिक शिल्प-संधान के सम्बन्ध में प्रायः सभी शीर्षस्थ-आलोचक एकमत हैं। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ('हिन्दी नवलेखन', पृ० 101 पर) लिखा है : "'शेखर' ने हिन्दी-उपन्यास की सर्वथा नवीन सम्भावनाओं को छुआ। उपन्यास के भाव-बोध तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से इस कृति ने पाठकों तथा समीक्षकों में एक नई चेतना का संचरण किया है। समाज की विभिन्न भाव-भूमियों से सम्पर्कित शेखर का व्यक्तित्व तथा उसकी एकान्त वेदना मानो चेतन तथा अर्द्धचेतन मन के विकास का आख्यान है। **एक ओर अज्ञेय ने सामान्यतः अस्पृश्य माने जाने वाले कथा-सूत्रों को ग्रहण किया और दूसरी ओर उपन्यास के शिल्प को अत्यन्त उन्मुक्त रूप दिया।** इसके अतिरिक्त 'शेखर' की भाषा भी अपने-आप में एक उपलब्धि है। भाषा का इतना परिष्कृत तथा अर्थ-प्रवण रूप हिन्दी में इसके पूर्व शायद ही देखा गया हो।"

अज्ञेय एक ऐसे विशिष्ट कथाकार हैं, जिन्होंने हिन्दी-उपन्यास को आधुनिक संवेदनाओं से संस्पर्शित कर, नई चेतना और अर्थवत्ता से अनुप्राणित कर उसे विकास के राज- मार्ग तक पहुँचाने का प्रयास किया है। उसका कहना है कि **'आख्यान साहित्य को हमने आगे बढ़ाया है, लेकिन मुख्यतया शिल्प की दिशा में।'**

एक ओर तो वे औपन्यासिक दृष्टिकोण के नयापन पर जोर देते हैं तथा उसे ही आधुनिक उपन्यास का प्रतिमान[1] तक घोषित करते हैं और दूसरी ओर शैल्पिक नव्यता के संधान पर अपना पूर्ण अवधान देते हैं। इसमें न तो कहीं कोई अस्वाभाविकता है और न ही कोई विरोधाभास, क्योंकि 'कथ्य' अथवा वस्तु के अनुकूल ही अभिव्यञ्जना की शैली या उपस्थापन-विधि भी विन्यस्त होती है। रचना का प्रतिपादन जहाँ परम्परा-मुक्त होगा, वहाँ उसकी प्रतिपादन-शैली में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। राबर्ट लुइस स्टीवेन्सन (Robert Louis Stevenson) का, अतः यह कहना बिल्कुल सही है कि 'प्रत्येक नये विषय के साथ सच्चा कलाकार अपनी कथन-प्रणाली को भी परिवर्तित करता रहेगा'—'with each new subject···the true artist will vary his method···' ठीक इससे मिलता-जुलता मत तोल्स्तोय का है। उसके मतानुसार, प्रत्येक महान कलाकार अनिवार्यतः अपने विधान या शिल्प (फॉर्म) का भी सर्जन करता है' : '··· Every great artist necessarily creates his own form also.'

अज्ञेय के समस्त उपन्यास भाव, वस्तु या विषय और शिल्प—दोनों ही दृष्टियों से प्रायोगिक नव्यता से सम्पन्न हैं। बल्कि, सच तो यह है कि अत्याधुनिक हिन्दी-उपन्यास ने 'शेखर : एक जीवनी' के माध्यम से नये पथ का अन्वेषण किया है। इस प्रकार, अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' के माध्यम से आधुनिक हिन्दी-उपन्यास के प्रायोगिक शिल्प का प्रवर्तन किया, जिसका अधिकाधिक विकास हुआ, उनके 'नदी के द्वीप' में। स्पष्ट है कि शैल्पिक प्रयोग का प्रवर्त्तन और उसके सौष्ठव का चरम विकास—दोनों ही अज्ञेय के क्रमिक उपन्यासों में निहित है।

शिल्प-विधान के समस्त उपकरणों के सन्दर्भ में इनके उपन्यासों का अध्ययन, औपन्यासिक तत्त्वों का विवेचन-विश्लेषण करना अधिक उचित होगा। कथानक, शील-निरूपण, (चरित्र-चित्रण), कथोपकथन, वातावरण (परिवेश) और भाषा शैली आदि औपन्यासिक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में अब अज्ञेय के उपन्यासों का हम क्रमिक अध्ययन करेंगे।

अज्ञेय के उपन्यासों का कथानक न तो (प्रेमचन्द-परम्परा के कथाकारों की भाँति) स्थूल होता है, न सीधा या सपाट ही। बल्कि सच तो यह है कि इनके कथानकों में एक विशेष प्रकार का आन्तरिक आवर्त्तन-प्रत्यावर्तन होता है। अतः इनके कथानक जोड़ के आकार में लगते हैं किन्तु होते नहीं। इस दृष्टि से 'शेखर :

1. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ 79

एक जीवनी' का नाम बड़ी आसानी से उद्धृत किया जा सकता है। आन्तरिक आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन का सबसे बड़ा और मुख्य कारण यह है कि अपनी औपन्यासिक कथा-वस्तु में कहीं भी इन्होंने बाह्य क्रिया-कलाप को प्रश्रय नहीं दिया है, अपितु सदैव इनकी 'रुचि व्यक्ति में रही है।' अत: व्यक्ति मन के अवचेतन-अचेतन के परतों को अनावृत्त कर, खुर्दबीन (Microscope) से देखना और पुन: उसका सृजनात्मक बौद्धिक विश्लेषण करना उपन्यासकार अज्ञेय को अधिक प्रिय है। दूसरी बात, जो बिल्कुल साफ है, वह यह कि अभिधात्मक अर्थ में, उनके उपन्यासों में सपाट सामाजिकता की तलाश करना व्यर्थ है, क्योंकि व्यक्ति की अन्तश्चेतना की गहराई में प्रविष्ट करने वाली उनकी दृष्टि सूक्ष्म और पैनी है। यह उनकी प्रातिभ तीव्रता का प्रमाण है। इस दृष्टि से, उनके उपन्यासों से सीधे सामाजिकता की मांग या अपेक्षा करना गलत होगा। स्वयं उनका कहना है कि "उपन्यास अनिवार्यतया पूरे समाज का चित्र हो, यह माँग बिलकुल गलत है। उपन्यास की परिभाषा के बारे में यह भ्रान्ति साहित्य के सामाजिक तत्त्व को गलत समझाने का परिणाम है। कह लीजिए, छिछली या विकृत प्रगतिवादिता का परिणाम है।"[1] स्पष्ट है कि इनका अभीष्ट अपने उपन्यासों में न तो सामाजिक कोलाहलों और हलचलों को प्रतिध्वनित करना है और न ही खासा सामाजिकता को आकलित करना ही। बल्कि स्थूल सामाजिकता के विपरीत, व्यक्ति-मन की आन्तरिक गुत्थियों को उन्होंने केन्द्रीय विषय के रूप में गृहीत कर, विश्लेषित करने का उपक्रम किया है। अत: उनके उपन्यासों के कथानक व्यक्ति-मनोविश्लेपण पर आधृत हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है चारित्रिक निरूपण की प्रधानता का होना। औपन्यासिक रचना में जब चारित्रिक निरूपण का प्राधान्य होता है, तब कथानक सीधा और सपाट न होकर वक्रिल और घुमावदार हो जाता है, क्योंकि मुख्य रूप से वह व्यष्टि-चरित्र के अन्तर्पक्ष से सम्बद्ध होता है और व्यष्टि के अन्तर्पक्ष में ऋजुता न होकर अधिकांशतया वक्रता और जटिलता ही होती है। यही कारण है कि अज्ञेय के सभी-के-सभी औपन्यासिक कथानक जटिल और व्यञ्जना-प्रधान हैं। दूसरी बात यह है कि इनके किसी भी उपन्यास में न तो सुनियोजित वस्तु-विधान मिलता है और न ट्रेडमार्क जैसी कोई एकरूपता अथवा एकतानता ही। 'शेखर : एक जीवनी' की कथावस्तु का अगर अपना अलग आकार-प्रकार और शैल्पिक रंग है तो 'नदी के द्वीप' का अलग और 'अपने-अपने अजनबी' का ढंग सबसे पृथक् स्थान रखता है। इसका मूल कारण यह है कि अज्ञेय ने किसी परम्परित लीक का अनुसरण न कर, व्यष्टि-मानस के टेढ़े-मेढ़े मेढ़ों पर चलकर अपने 'कथ्य' के लक्ष्य तक

1. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 86

पहुँचने का दु:साध्य प्रयास किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके कथानकों में भी परम्परा-मुक्तता और प्रयोगशीलता के संश्लिष्ट तत्त्वों का ही आधिक्य और प्रामुख्य है। इस दृष्टि से भी वे आधुनिकता की चुनौती को स्वीकार करते दृष्टिगत होते हैं। वस्तुत: उनके औपन्यासिक वस्तु-विधान (कथानक) का विवेचन सही माने में तब तक जायज नहीं होगा, जब तक एक-एक कर क्रमश: उनके समस्त उपन्यासों का अध्ययन और विवेचन प्रस्तुत न किया जाय। इस दृष्टि से अब हम उनके उपन्यासों के कथानकों का विवेचन क्रमश: एक-एक कर करेंगे।

(1) शेखर : एक जीवनी

यह शेखर नामक एक व्यक्ति विशेष का जीवनी-मूलक उपन्यास है। इसका मतलब यह है कि व्यक्ति-नामक शेखर की जीवनी पर इस उपन्यास का कथानक आधृत है किन्तु ध्यातव्य यहाँ यह है कि 'जीवनी' में मुख्यत: अभिधामूलक इतिवृत्तात्मकता होती है, जबकि इस उपन्यास में 'वस्तु' की अभिधा न होकर व्यञ्जना की क्षिप्रता और प्रमुखता ही अधिक है। 'जीवनी' में वास्तविक विवरणों की प्रधानता होती है, किन्तु इस कृति में वास्तविक विवरण की नहीं, व्यक्ति (मानव) मन के प्रत्ययों, भावों, अनुभूतियों और संवेदनाओं की कल्पना-प्रधान संश्लिष्ट अभिव्यञ्जना को बड़े कौशल से विन्यस्त किया गया है। अत: इसकी औपन्यासिकता सर्वथा सुरक्षित और स्वयंसिद्ध है।

विवेच्य उपन्यास में उपन्यासकार ने 'घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए Vision शब्द-बद्ध'[1] करने के क्रम में एक विशिष्ट 'कलावस्तु गढ़ने का यत्न किया है।'[2] दूसरा कथानक आठ भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में 'ऊषा और ईश्वर', 'बीज और अंकुर', 'प्रकृति और पुरुष' तथा 'पुरुष और परिस्थिति' शीर्षकों में कथा-वस्तु का आरम्भिक विन्यास किया गया है और (उपन्यास के) दूसरे भाग में क्रमश: 'पुरुष और परिस्थिति', 'बन्धन और जिज्ञासा', 'शशि और शेखर' एवं 'धागे, रस्सियाँ, गुँझर' शीर्षकों के अन्तर्गत उसको (पहले भाग की कथा वस्तु को) विकसित करने का उपक्रम किया गया है। तीन भागों में प्रस्तावित यह उपन्यास अब तक दो भागों में प्रकाशित है। पहले भाग में कथानक का आयोजन और प्रारम्भिक विकास होता है तथा दूसरे भाग में इसका वयस्क और प्रौढ़ रूप हमारे समक्ष प्रकट होता है। दूसरा भाग इस दृष्टि से पहले भाग का पूरक

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 7
2. वही, पृ० 11

है। किंतु, अज्ञेय की प्रातिभ-चातुरी ने इसका उपस्थापन इस कौशल के साथ किया है कि एक-एक भाग का अपना स्वतन्त्र और अलग अस्तित्व भी सुरक्षित और पूर्ण है। इस प्रकार, परस्पर ये एक-दूसरे के अनुक्रम और आश्रित होने के बावजूद आत्म-निर्भर हैं। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में इस प्रकार का सबसे पहला और सफल प्रयोग किया अज्ञेय ने। इस दृष्टि से 'शेखर: एक जीवनी' का वस्तु-विन्यास परम्परा से कटा हुआ, अत: प्रयोगशील प्रतीत होता है।

विवेच्य उपन्यास का कथानक सीधा और सपाट न होकर संश्लिष्ट और जटिल अधिक है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि इसमें एकाधिक कथा-सूत्रों को ग्रंथित किया गया है, जिनका विकास स्वतन्त्र रूप में होता है। वे समस्त कथा-सूत्र समवेत रूप में इसी मुख्य कथावस्तु को आगे बढ़ाने में सक्षम होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इसके कथानक में किसी प्रकार की गाँठ या जोड़ है। बल्कि सच्ची बात तो यह है कि इसके कथानक में न तो किसी प्रकार का पूर्व-नियोजन है और न किसी प्रकार की संश्लेषण-चेष्टा, बल्कि चरित्र-विश्लेषण के प्राधान्य के कारण इसमें विश्लेषणों का संश्लेषण ही अधिक है। अत: इस कथानक को **'विश्लेषणों के संश्लेषणमूलक'** कथानक की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। इसके सारे-के-सारे विश्लेषण औपन्यासिक नायक शेखर के चरित्र को उजागर करने वाले हैं, यहाँ तक कि बाह्य घटनाएँ भी उसके आन्तरिक पक्ष का ही उद्-घाटन करती हैं। इसलिए कुल मिलाकर इसका नाम हम **'चरित्रमूलक कथानक'** भी दे सकते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक फाँसी के लिए प्रतीक्षारत-शेखर की मन:स्थिति पर आधृत है। सम्पूर्ण कथा का आयोजन और विन्यास उसी के जीवन-चरित के विश्लेषण के लिए किया गया है। सारे-के-सारे कार्य-व्यापार उसी के चरित्र के विकास व विश्लेषण के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास के कथानक में न तो किसी प्रकार की ठोस स्थूलता है और न किसी प्रकार की किस्सागोई, बल्कि वस्तु-स्थिति बिल्कुल इससे भिन्न है। अज्ञेय का अभीष्ट कथा को रब्बर की तरह बढ़ाकर विन्यस्त करना नहीं है, अपितु अपने 'कथ्य' का प्रतिपादन और व्यक्ति-चरित्र का विश्लेषण प्रस्तुत करना भर है। यह प्रवृत्ति मात्र उनकी ही नहीं वरन् आधुनिकता से परिपूर्ण प्राय: समस्त उपन्यासों की भी है। इसको विवेचित करते हुए उन्होंने लिखा है : "आरम्भ में वृत्तान्त में एक नायक होता था, जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थीं। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरन्तर बढ़ता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अन्त में चरित्र-नायक व्यक्ति-प्रकार (टाइप) न होकर

विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओं के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त' या 'शान्त' आदि वर्गों में रख देना पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।"[1] अज्ञेय के इस परिकथन को विश्लेषित करने पर ये तथ्य उपलब्ध होते हैं :

(क) पूर्ववर्त्ती उपन्यासों में नायक के द्वारा घटनाओं का विकास होता था यानी घटना और नायक में परस्पर सम्बन्ध नियोजित होते थे। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि उन उपन्यासों में घटनाओं के लिए घटनाओं का निर्माण होता था, जबकि आधुनिक उपन्यास में घटनाओं का संकोचन मिलता है। जो घटनाएँ नियोजित होती हैं, वे वस्तु-तत्त्व को फैलाने का काम नहीं करतीं, वरन् उनके माध्यम से कथाकार नायक (व्यक्ति) की आन्तरिक गहराई में प्रविष्ट करने का उपक्रम करता है।

(ख) पूर्ववर्त्ती उपन्यासों के चरित्र-नायक अधिकांशतया व्यक्ति-प्रकार (टाइप) हुआ करते थे, जबकि आज का नायक अपनी सीमा में सर्वथा एक साधारण या विशेष व्यक्ति मात्र ही रहता है और उसके चरित्र के अन्तर्पक्ष का उद्घाटन करना ही आधुनिक उपन्यासकार का अभीष्ट होता है।

वस्तुत: आज के मनुष्य के लिए घटनाओं का उतना महत्त्व नहीं रहा, जितना परिस्थिति और मानसिक संघर्ष का है। इसका मूल कारण यह है कि व्यक्ति-मानस और उसकी चेतना पर ही घटनाएँ निर्भर करती हैं। इसको यों भी कह सकते हैं कि पुरातन उपन्यासों के नायक या पात्र बाह्य घटनाओं के द्वारा अधिक प्रभावित और परिचालित होते थे, जबकि आधुनिक उपन्यासकार यह मानकर चलता है कि अधिकांश घटनाएँ व्यक्ति-मानस पर आश्रित हैं और उनके कारण ही घटित भी होती हैं। अत: घटनाओं की इतिवृत्तात्मकता का निरूपण करना अब उपन्यास में महत्त्व नहीं रखता, बल्कि कतिपय घटनाओं के द्वारा पात्रों का आन्तरिक विश्लेषण ही महत्त्वपूर्ण है। अत: अज्ञेय ने आधुनिक उपन्यास में निहित पात्रों की चारित्रिक महत्ता को बार-बार स्वीकार[2] किया है। इसके कई कारण

1. अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ 82
2. (क) "व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासों को जन्म दिया।"—हिन्दी-साहित्य : एक आ० परिदृश्य, पृ० 82।
   (ख) 'आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्त्व रखता है।
   —वही, पृ० 83

(क्रमश: पेज 101)

हैं : सबसे पहली बात तो यह है कि अज्ञेय आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की भाँति यह मानकर चलते हैं कि 'बाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा, क्योंकि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वापित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती है और रह सकती है।"[1] दूसरी बात, जो अत्यन्त प्रमुख और महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि अज्ञेय अपने कथा-साहित्य में बुनियादी नैतिक मूल्यों के संधान का प्रयास करते हैं, जिसमें घटनाओं का महत्त्व नहीं होता, अथवा बहुत कम होता है, महत्त्व होता है व्यक्ति के चारित्रिक विश्लेषण का। यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों के कथानक चरित्र-प्रधान हैं चाहे वह 'शेखर : एक जीवनी' हो, या 'नदी के द्वीप' अथवा 'अपने-अपने अजनबी' का कथानक हो।

'शेखर : एक जीवनी' के कथानक में घटनाओं की इतिवृत्तात्मकता का सर्वथा अभाव है। अगर उसमें केवल घटनाओं का इतिवृत्तात्मक अंकन होता तो इतना निश्चित था कि वह 'जीवनी' मात्र की परिधि से बाहर न निकल पाता। किन्तु, ऐसा नहीं हुआ। 'शेखर : एक जीवनी' अभिव्यंजना की वक्रता, मनोविश्लेषण-क्षिप्रता और प्रायोगिक व शैल्पिक नव्यता के कारण आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में शीर्षस्थ स्थान का अधिकारी सिद्ध हुआ। इस उपन्यास में 'कथा' तत्त्व का महत्त्व न होकर, वस्तु अथवा कथ्य का महत्त्व है, साथ ही जिस चरित्र की कथा को विन्यस्त किया गया है, महत्त्व वस्तुतः उसी का है। इस संदर्भ में श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय का कहना है कि "शेखर', में कहानी का एकान्त अभाव है, बिखरी-बिखरी, उखड़ी-उखड़ी असम्बद्ध शृंखलाओं से उसे जोड़ने-तोड़ने का प्रयत्न किया गया है।"[2] श्री पाण्डेय के इस कथन पर विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें अर्द्ध-सत्य की स्वीकृति है। उनके इस कथन के पूर्वार्द्ध में तथ्य की स्वीकृति अवश्य है, किन्तु उत्तरार्द्ध की स्थापना में ऊपरी विभ्रम अधिक है, क्योंकि 'शेखर' में बिखराव अथवा विशृंखलता न होकर शिल्प की नयी उपस्थापना है, जिसे समझने में श्री पांडेय ने किंचित् असावधानी से काम लिया है। दरअसल, इस औपन्यासिक कृति में कहीं-कोई जोड़ या गाँठ न होकर, शैल्पिक वक्रता अधिक है। अतः इसका

(ग) "अज्ञेय की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है।"
—वही, पृ० 107।

(घ) 'अज्ञेय की दृष्टि मूलतया कवि की दृष्टि है। सामाजिक संघर्षों के व्यक्तिगत पहलुओं को ही वह अपना विषय बनाते हैं।" —वही, पृ० 108।

1. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 83।
2. श्री गंगा प्रसाद पाण्डेय : हिन्दी कथा-साहित्य, पृ० 186

कथानक सीधा या सपाट न होकर स्प्रिंग की तरह घुमावदार है, जिसमें कभी संकोचन होता है तो कभी प्रसार।

इस बात की कई बार आवृत्ति हो चुकी है कि 'शेखर : एक जीवनी' में घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न'[1] किया गया है। शेखर अपनी 'जीवन-यात्रा के अन्तिम पड़ाव'—फाँसी की छाया में अपने जीवन के अतीत का प्रत्यावलोकन अथवा प्रत्याह्वान करता है। ऐसी स्थिति में उसके अपने विगत-जीवन के सारे-के-सारे प्रमुख चित्र उसके मानस-पटल पर उभर आते हैं। इन चित्रों को वह कोई कृत्रिम तारतम्य नहीं देता, बल्कि स्वाभाविक रूप में उन्हें अनुभूत करता है, वस्तुतः उसकी अनुभूतियाँ गणित की समानांतर रेखा की तरह सीधी-सपाट या ऋजु न होकर 'ग्रैफ़िक' उतार-चढ़ाव की तरह वक्रिल प्रतीत होती हैं। इसलिए परम्परित उपन्यासों की तरह इस उपन्यास के कथानक में आरम्भ, विकास और चरमबिन्दु की तलाश करना सर्वथा व्यर्थ होगा। औपन्यासिक कथानक जब आरम्भ, विकास और चरमबिन्दु की दिशा में बढ़ता चलता है, तब उसमें अभिधात्मक वर्णन की प्रधानता होती हैं, किन्तु 'शेखर' में अभिधात्मक वर्णन की जगह 'व्यजना के संकेत' का आधिक्य मिलता है। साथ ही 'मानसिकता' प्रधान होने के कारण उपन्यासकार ने तंत्र ('टेकनीक') के बतौर 'प्रत्यक् दर्शन प्रणाली' (फ्लैश-बैक स्टाइल) को अधिकांशतया गृहीत किया है।

'शेखर : एक जीवनी' में कथा की व्यापकता न होकर संश्लिष्टात्मकता और कसावट अधिक है। इससे इसके कथात्मक तत्त्व अथवा उपन्यासत्व पर किंचित् भी संदेह करना अनुचित होगा। मेरे इस कथन की पुष्टि शेखर के इस वाक्य से आसानी से हो जाती है, जहाँ वह कहता है : "मुझे जान पड़ता है, मेरे जीवन की जो भी घटना मेरे सामने आती है वह मेरी है, मौलिक है, अपने में सम्पूर्ण एक कहानी और मेरा सारा जीवन बढ़िया उपन्यास।"[2] यह बात और है कि उन घटनाओं में तारतम्य का अभाव[3] है। वस्तुतः तारतम्य के इस अभाव में ही 'शेखर : एक

1. 'शेखर : एक जीवनी' प्र० भाग, संस्करण 1966, पृ० 7
2. वही, पृ० 122
3. इस सम्बन्ध में शेखर को कहना ठीक ही है कि "जैसे मोतियों की माला टूट गई हो, और बिखरे मोतियों को फिर एक बेतरतीब लड़ी में पिरो दिया जाय, उसी तरह मेरी स्मृतियों की तरतीब उलझ-सी गई है।"

—'शेखर : एक जीवनी' प्र० भा०, पृ० 22

पुनः इसी बात को वह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के लहजे में जैसे लपेट कर

(क्रमशः पेज 103)

जीवनी' सशक्त व अत्यधिक समर्थवान उपन्यास बन सका है, अन्यथा वह जीवनी-भर होकर ही स्यात् शेष रह जाता।

(2) नदी के द्वीप

'नदी के द्वीप' की कथावस्तु 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा अत्यधिक सुगठित और व्यापक है। 'शेखर : एक जीवनी' की भाँति इसमें भी चरित्र-विश्लेषण की सूक्ष्मता और चारुता ही परिलक्षित होती है। अतः इसे भी चरित्र-प्रधान उपन्यास की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इसमें चार पात्रों—भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव का चारित्रिक विश्लेषण संवेदना के स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं पात्रों के आधार पर उपन्यास का कथानक ग्यारह खंडों में विभक्त है : भुवन, चन्द्रमाधव, गौरा, अन्तराल, रेखा, भुवन, चन्द्रमाधव, रेखा, अन्तराल, गौरा और उपसंहार। इस औपन्यासिक कथानक के आरम्भ और अन्त दोनों में ही उपन्यासकार अज्ञेय ने अत्यन्त कलात्मकता से काम लिया है। इसका आरम्भ प्राकृतिक शृंगार की नाटकीयता से किया गया है और अन्त भुवन के पत्र के माध्यम से संकेतित है। 'शेखर : एक जीवनी' की अपेक्षा इस उपन्यास के कथानक का दायरा अधिक व्यापक है। अतः डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कहना सही

> कहता है : "कहते हैं कि जिन घटनाओं का अनुभव बहुत तीव्र अनुभूति के साथ किया जाता है, वे चेतना के पट पर पत्थर की लकीर की तरह खिंच जाती हैं, और उनका स्मरण एक पूरे चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नहीं। अर्थात् स्मृति में वे घटनाएँ आती हैं तो एक अनिवार्य, परिवर्त्तनहीन अनुक्रम लेकर, जिससे स्मरण करने वाले की कलम की स्वेच्छा नहीं, घटना की बाध्य अनुगतिकता है···एक दूसरा सिद्धान्त है कि तीखी वेदनाजन्य अनुभूति को चेतना भुलाने का प्रयत्न करती है और क्रमशः आत्म-प्रतारणा के इतने पर्दों में लपेट देती है कि उसकी आकार-रेखा बिल्कुल ओझल हो जाती है, व्यक्ति की स्मृति से बिल्कुल निकल जाती है। किन्तु मैं देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति की ये घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटती हैं, और न पत्थर पर लिखे हुए इतिहास की तरह नित्य और अचल हैं। देखता हूँ कि कुछ दृश्य हैं, जो बिजली की कौंध की तरह जगमग हैं, कुछ और हैं, जो बुझ गए हैं और घटना के अनुक्रम का तागा तोड़ गए हैं, तोड़ ही नहीं, उलझा भी गए हैं, जिससे मैं उन ज्वलन्त घटनाओं को भी ठीक कालक्रम से नहीं देखता—मनमाने क्रम से जलती हुई आती और चली जाती हैं, और मैं दावे के साथ नहीं कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ, इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ और इसमें यह ध्वनित नहीं है कि केवल इतना ही हुआ या कि इसी क्रम से हुआ···।"
>
> —शेखर : एक जीवनी, भाग-दो, पाँचवां संस्करण, पृ० 183

प्रतीत होता है कि 'नदी के द्वीप' विस्तृत कैनवैस पर अंकित किये जाने वाले मानव-जीवन के एक सीमित अंग का 'डिटेल' है।"[1]

'नदी के द्वीप' में एक तो संवेदना का विस्तार है और दूसरे कथानक में गठन और संतुलन। इस दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' से इसकी किञ्चित् भिन्नता स्पष्ट है। स्वयं उपन्यासकार अज्ञेय ने इनके पारस्परिक अन्तर का विवेचन करते हुए लिखा है : ' 'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का ही उपन्यास है। घटना उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफी है पर घटना-प्रधान उपन्यास वह नहीं है। शेखर की तरह वह परिस्थितियों में विकसित होते हुए एक व्यक्ति का चित्र है और उस चित्र के निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना भी नहीं है। वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। उसमें पात्र थोड़े हैं बल्कि कुल चार ही पात्र हैं। चार में फिर दो और दो में फिर एक और भी विशिष्ट प्राधान्य पाता है। 'शेखर' से अन्तर मुख्यतया इस बात में है कि शेखर में व्यक्तित्व का क्रमशः विकास होता है, 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं। हम जो देखते हैं वह अमुक स्थिति में उनका निर्माण या विकास नहीं, उनका उद्घाटन भर है और चार पात्रों में जो दो प्रधान हैं, उन पर यह बात और भी लागू होती है, बाकी दो पात्रों में तो कुछ क्रमिक विकास भी होता है। आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि 'नदी के द्वीप' चार संवेदनाओं का अध्ययन है। उसमें जो विकास है वह चरित्र का नहीं, संवेदनाओं की ही है।"[2]

उपर्युक्त उद्धरण से इतनी बात साफ हो जाती है कि 'नदी के द्वीप' में संवेदना की प्रधानता है। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में आधुनिकता की चुनौती को संवेदना के स्तर पर स्वीकृत और अभिव्यक्त किया गया है। इसमें पात्र चार हैं और इन चारों पात्रों के दृष्टि-कोण पर औपन्यासिक कथानक आधृत है। प्रत्येक पात्र की निजी परिस्थितियाँ और समस्याएँ हैं। अतः उनके पारस्परिक दृष्टिकोण और उनकी संवेदनाओं में एक प्रकार का अंतराल और अलगाव है। उपन्यास का जो भाग (खंड) जिस पात्र पर आश्रित है, उस भाग में उसी से सम्बद्ध संवेदना या दृष्टि को अभिव्यक्ति मिली है। इस प्रकार पात्रों के आधार पर देखा जाए तो पूरे उपन्यास में चार कथा-सूत्र हैं और इन कथा-सूत्रों को परस्पर संश्लेषित कर उनमें एकरूपता स्थापित करने की चेष्टा की गई है। चारों पात्रों में रेखा का व्यक्तित्व अधिक

1. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी नवलेखन, पृ० 99
2. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 72-73

उजागर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से उसे ही हम समग्र उपन्यास का केन्द्रीय पात्र और व्यक्तित्व मान सकते हैं। उपन्यासकार अज्ञेय की मान्यता भी यह है कि "रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे अधिक परिपक्व पात्र है···मेरी दृष्टि में वही उपन्यास का प्रधान पात्र भी है।"[1] दरअसल उपन्यास में अधिकांश घटनाओं और व्यापारों का नियोजन रेखा को लेकर ही किया गया है। चारों कथा-सूत्रों का संयोजन रेखा के कारण ही होता है। अतः स्पष्ट है कि वही वह विशिष्ट पात्र है, जिसके चहुँ ओर कथा का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन होता है।

उपन्यास के प्रारम्भ में भुवन का प्रसंग नियोजित है। भुवन अपनी स्मृतियों के धरातल पर रेखा के सम्बन्ध में ही चिन्तन और प्रत्यावलोकन करता है। इस प्रत्यावलोकन के लिए उपन्यासकार ने प्रत्येक दर्शन-प्रणाली का सहारा लिया है। दूसरे खण्ड में रेखा और चन्द्रमाधव के पारस्परिक आकर्षण और प्रणय की संवेदना की कथा अभिव्यञ्जित हुई है। रेखा का व्यक्तित्व भुवन और चंद्रमाधव—दो पुरुषों के प्रणय-आकर्षण के बीच दोलायित होता हुआ तनाव की अतिशयता के कारण टूट-सा जाता है और बाद में चलकर वह डॉ० रमेश की परिणीता पत्नी बन जाती है। उधर भुवन की स्थिति भी बड़ी ही डाँवाडोल है। वह भी भविष्य में गौरा नामक अपनी शिष्या के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है। इस प्रकार चारों पृथक् कथा-सूत्रों को मिलाकर समवेत रूप प्रदान किया गया है। कथा में जहाँ कोई 'अन्तराल' (गैप) रह गया है, पत्री के माध्यम से अथवा प्रत्यक् प्रणाली से वह पटता चलता है। इस प्रकार, प्रस्तुत उपन्यास के कथानक में एक ओर व्यापकता मिलती है तो दूसरी ओर इसका प्रस्तुतीकरण 'शेखर : एक जीवनी' की तुलना में अधिकाधिक सुव्यवस्थित और सुगठित रूप में किया गया है। अतः औपन्यासिक दृष्टि से 'नदी के द्वीप' 'शेखर : एक जीवनी' को कुछ हद तक पीछे छोड़ देता है। इस दृष्टि से यह कृति अज्ञेय की औपन्यासिक उपलब्धि और प्रतिभा को सहजतः प्रमाणित करने में समर्थ सिद्ध होती है।

(3) 'अपने-अपने अजनबी'

कथा-वस्तु की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' अत्यन्त लघु उपन्यास है। इसमें वैचारिक दौर और प्रायोगिक नव्यता की प्रधानता है। 'प्रायोगिक नव्यता' से यहाँ आशय है—वस्तु और शिल्प की परम्परा-मुक्तता से। उपन्यासकार अज्ञेय ने इस उपन्यास में एक तो 'वस्तु' को नये परिप्रेक्ष्य में विन्यस्त कर, ढाला-सँवारा

1. आत्मनेपद, पृष्ठ 83

है, और दूसरी ओर इसके उपस्थापन-शिल्प में भी नई प्रणालियों का उपयोग किया है। इस औपन्यासिक कृति के कथानक में संवेदना के बजाय विचारों और चिन्तनगत प्रत्ययों की प्रमुखता है। दूसरी बात यह कि 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप'—दोनों ही प्रोक्त उपन्यासों की कथा-वस्तु से इसकी कथानक-परिधि अत्यन्त सीमित और संकुचित है। इसका सबसे बड़ा कारण है—मृत्यु से साक्षात्कार और वरण की असाधारण परिस्थितियों का चयन। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी का, अत: अभिमत है कि "शिल्प के स्तर पर काफी गठित होने पर भी विधान (स्ट्रक्चर) की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' कुछ कमजोर पड़ता है, या कि पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं हो पाता। इसका मुख्य कारण उपन्यास के कथानक में बहुत असाधारण परिस्थितियों का चुना जाना है।"[1] इस उपन्यास की सम्पूर्णता में 'मृत्यु बोध' की संवेदना को वैचारिक स्तर पर सम्प्रेषित किया गया है। अत: डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी की मान्यता सर्वथा सही है कि "विषय और वस्तु दोनों दृष्टियों से 'अपने-अपने अजनबी' मृत्यु से साक्षात्कार का आख्यान है।"[2]

'अपने-अपने अजनबी' तीन खण्डों अथवा अध्यायों में विभक्त है तथा इसकी संपूर्ण कथा-परिधि—सेल्मा और योके—मुख्यतया दो पात्रों तक परिसीमित है। यह औपन्यासिक कथा—'योके और सेल्मा, सेल्मा एवं योके खण्ड-त्रयी में विभक्त व व्याप्त है। उपन्यास के प्रथम खण्ड 'योके और सेल्मा' में दोनों प्रमुख पात्रों—योके और सेल्मा की परस्पर विरोधी जीवन-दृष्टियों के संघर्ष और तनाव को विश्लेषित किया गया है। यायावर योके कैंसर से ग्रस्त और पीड़िता वृद्धा सेल्मा की अतिथि के रूप में हिमाच्छादित उसके कब्रनुमा काष्ठ-गृह में दो मास तक कैद हो जाती है। कालान्तर में वृद्धा सेल्मा की मृत्यु उसी काष्ठ-गृह में हो जाती है। द्वितीय खण्ड सेल्मा के जीवन-चरित पर आधृत है, जिसमें वृद्धा सेल्मा अपने विगत जीवन का प्रत्यावलोकन करती है, साथ ही जीवन और मृत्यु की द्वन्द्वात्मक अनुभूति को कभी संवेदना, कभी वैचारिक स्तर पर सम्प्रेषित करने का उपक्रम करती है। तीसरे खण्ड 'योके' में योके के चरित्र और उसकी जीवन-दृष्टि को उभारा और विश्लेषित किया गया है। अन्ततोगत्वा, मृत्यु से भयभीत होनेवाली योके जर्मनों द्वारा वेश्या बना दी जाती है और स्वेच्छया मृत्यु का वरण कर लेती है। इस प्रकार, पूरा-का-पूरा उपन्यास 'दुखान्त' बन जाता है।

'अपने-अपने अजनबी' के दोनों पात्र—सेल्मा और योके पात्र के रूप में

1. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० 124
2. वही, पृ० 115

वैचारिक प्रतीक हैं। दोनों के चारित्रिक विश्लेषण के माध्यम से उपन्यासकार अज्ञेय ने पौर्वात्य एवं पाश्चात्य जीवन-दृष्टि के टकराव को प्रकारान्तर में उपस्थापित करने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्हें तदनुकूल वातावरण का संयोजन और निर्माण सायास करना पड़ा है। इस उपन्यास के कथानक में किसी प्रकार का अनावश्यक विस्तार न होकर आन्तरिक गठन और कसावट अधिक है। प्रस्तुत कथानक में किस्सागोई अथवा 'कहानीपन' का सर्वथा अभाव तथा चरित्र-विश्लेषण के माध्यम से चिन्तन और दर्शन का प्राचुर्य और प्राधान्य है। इस दृष्टि से ऐसा कहा जा सकता है कि इस औपन्यासिक कथानक का उपन्यासत्व, घटना-वर्णन के स्तर पर कम, वस्तुगत प्रत्यय की अभिव्यंजना के स्तर पर अधिक उजागर होता है। वर्णन के अभाव और अभिव्यंजना के आधिक्य के कारण उपन्यास की कथा-वस्तु सामान्य और औसत पाठकों की चेतना से बिछल जाती है अथवा दुर्बोध बनकर उसकी ग्राहिका-शक्ति की पकड़ से बाहर और परे हो जाती है। जीवन-दृष्टि की संश्लिष्टात्मक अभिव्यक्ति के प्राधान्य होने के कारण इसकी विज्ञप्ति इन शब्दों में की गई है, "अपने-अपने अजनबी' में पौराणिक रूपक का-सा अर्थ-गाम्भीर्य है। वह दुःखान्त होकर भी जीवन-प्रेम का मानो खण्डकाव्य है।"

अज्ञेय के उपन्यासों के कथानकों के उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इनमें अवांछित अथवा सचेष्ट किस्सागोई का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि इन कथानकों में ऊपरी अथवा बाहरी फैलाव नहीं मिलता, मिलती है : आन्तरिक गहनता, सूक्ष्म संवेदना की बारीकी और अभिव्यक्ति की संश्लिष्टता। इस दृष्टि से इनके औपन्यासिक कथानक परम्परा-मुक्त प्रतीत होते हैं। अतः अज्ञेय के परम्परा-मुक्त कथानक इनकी प्रयोगशील दृष्टि व चेतना को सहजतः प्रमाणित और इंगित करते हैं। इन कथानकों में अनावश्यक विस्तार न होकर अभिव्यक्ति की संश्लिष्टता और गहनता है। इनमें शास्त्रीय—आरम्भ, विकास और चरम बिन्दु जैसी घिसी-पिटी दृष्टि का सर्वथा अभाव है और उसकी जगह प्रयोग की नव्यता के अनेक पुट परिलक्षित होते हैं। इतना ही नहीं, कथानकों के प्रस्तुतीकरण में भी उन्होंने नये-नये शिल्पों का संधान व प्रयोग किया है, जिसका विवेचन, आगे शैली पर विचार करने के क्रम में किया जायेगा।

चारित्रिक विधान

कथाकार अपनी कथा-कृतियों में प्रायः चारित्रिक नियोजन के द्वारा अपने 'कथ्य' का सम्प्रेषण सही तौर पर कर पाता है। प्रत्येक कथा-कृति में कोई-न-कोई

ऐसा पात्र अवश्य होता है, जिसके माध्यम से कथाकार अपने मंतव्य अथवा कथ्य की अभिव्यक्ति सहज रूप में करता है। कभी-कभार तो ऐसा भी होता है कि रचनाकार अपनी कल्पना, भावना और संवेदनशीलता को किसी विशिष्ट पात्र के व्यक्तित्व पर अभिकेन्द्रित कर उसको उपस्थापित करता है, साथ ही स्वयं अपने व्यक्तित्व को, विशिष्ट पात्र के चरित्र-विधान के माध्यम से सामने लाने का उपक्रम करता है। इस प्रकार, चरित्र-विधान के द्वारा कथाकार (और नाटककार भी) अपनी संवेदना, भावना, कल्पना और उपपत्तियों को सम्प्रेषित कर स्वयं अपने आपको ही अवान्तर रूप से प्रस्तुत करता है।

अज्ञेय-पूर्व उपन्यासों में चरित्रों (पात्रों) की अत्यधिक भरमार मिलती है। इसीलिए उन उपन्यासों में घटनाओं का सायास विस्तार होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी कथा-वस्तु सपाट और वर्णनात्मक अधिक होती है। प्रेमचन्दोत्तर, विशेषकर अज्ञेय-स्कूल के उपन्यासों की स्थिति बिल्कुल भिन्न और विपरीत है। सबसे पहली बात तो यह है कि अद्यतन उपन्यासों में चरित्रों (पात्रों) की संख्या अत्यन्त अल्प और सीमित होती है। कुछेक पात्रों के सहारे ही उपन्यासकार अपना काम चला लेता है। यह अकारण नहीं है। वस्तुत: इन उपन्यासकारों का अभीष्ट पात्रों अथवा चरित्रों के अधिकांश बाह्य क्रिया-व्यापारों का वर्णन करना अथवा उनकी इतिवृत्तात्मकता का प्रस्तुतीकरण करना न होकर, उनके मानसिक क्रिया-कलाप का उद्‌घाटन भर करना होता है। इसीलिए इन उपन्यासों में घटनाओं का विवरण नहीं मिलता, मिलता है उनका चारित्रिक विश्लेषण। चारित्रिकविश्लेषणके निमित्त व्यक्ति-पात्रों के अवचेतन और अचेतन मन की अतल गहराई का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ता है। इस प्रकार, आधुनिक उपन्यास-साहित्य में चरित्र-विधान को मनोवैज्ञानिकता का नया आयाम प्राप्त हुआ है।

हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में सुव्यवस्थित मनोवैज्ञानिकता के प्रवर्त्तन का प्रमुख श्रेय अज्ञेय को है। इसके पूर्व भी एकाधिक बार इस बात की आवृत्ति की जा चुकी है कि उपन्यासकार अज्ञेय का रूझान वस्तु की संघटना की ओर कम, व्यक्ति के चरित्र-विश्लेषण की ओर अत्यधिक है। इन्होंने अपने औपन्यासिक पात्रों (चरित्रों) का चयन—प्राकारिक अथवा 'टाइप' रूप में न कर सर्वथा व्यक्ति की इकाई के रूप में किया है। स्वयं उनका कहना है कि "···मेरी रुचि सदैव व्यक्ति में रही है।"[1] उन्होंने अपने प्रोक्त तीनों ही उपन्यासों में व्यक्ति-चरित्र के उद्‌घाटन और

1. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 72

विश्लेषण पर बहुविध बल दिया है। दूसरे शब्दों में यों कहें कि उपन्यासकार के रूप में अज्ञेय की दृष्टि सर्वत्र व्यक्ति पर अभिकेन्द्रित है। उन्होंने अपनी एतद्-विषयक दृष्टि की अभिव्यक्ति पर बार-बार जोर दिया है। उदाहरण के बतौर उनके कुछ वाक्यों को उद्धृत करें :

(क) "आरम्भ में वृत्तान्त में एक नायक होता था, जिस पर या जिसके द्वारा घटनाएँ घटित होती थीं। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरन्तर बढ़ता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अन्त में चरित्र-नायक व्यक्ति-प्रकार ('टाइप') न होकर विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओं के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त' या 'शान्त' आदि वर्गों में रख देना पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।"[1]

(ख) "व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासों को जन्म दिया।"[2]

(ग) "अज्ञेय की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है।"[3]

इन उद्धरणों के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का अभीष्ट अपने उपन्यासों में सर्वत्र और सर्वथा व्यक्ति-चरित्र का उद्घाटन, विश्लेषण और पर्य्यांकन करना है। श्री शिवदानसिंह चौहान का, अतः यह कहना काफी हद तक सही है कि "न वे (अज्ञेय) उन मानव-चरित्रों की सृष्टि करते हैं, जो युग-सत्य के वाहक मानव-उद्योगों के प्रतीक, प्रतिनिधि चरित्र हैं। बल्कि वे केवल विशिष्ट व्यक्ति-मानस के आन्तरिक संघर्ष को ही चित्रित करने का प्रयत्न करते हैं—जीवन की सामान्य परिस्थिति से अलग करके।"[4] इस दृष्टि से इनके उपन्यासों को 'व्यक्तिवादी' अथवा चरित्र-विश्लेषणमूलक उपन्यास नाम से संज्ञायित कर सकते हैं।

अब अज्ञेय के समस्त उपन्यासों के **चरित्र-विधान** का विवेचन-विश्लेषण पृथक्-पृथक् रूप में करें :

1. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ 82
2. ऊपरिवत्
3. वही, पृ० 107
4. शिवदान सिंह चौहान—साहित्यानुशीलन, पृ 261

'शेखर : एक जीवनी'

'शेखर : एक जीवनी' अज्ञेय का व्यक्तिवादी और चरित्र-विश्लेषणमूलक उपन्यास है। जैसाकि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है, शेखर ही उपन्यास का मुख्य पात्र है और उसी एक व्यक्ति-पात्रके चरित्र को पूरे उपन्यासके 'कैनवैस' पर विश्लेषित किया गया है। यहाँ तक कि अन्य पात्रों का नियोजन भी उसी के लिए किया गया है—चाहे वह शारदा हो या शान्ति, सरस्वती हो अथवा शशि आदि। इस कृति में महत्त्व कथा का न होकर, जिस चरित्र की कथा कही गई है, महत्त्व उसी का है। इसमें 'शेखर' की ही समग्र कथा कही गई है। उसकी यह कथा 'कथा' के लिए नहीं, उसके चरित्र के रेखांकन के लिए ही मुख्य रूप से गढ़ी गई है।

शेखर साधारणता से परे अर्थात् असाधारण व्यक्ति-चरित्र है। 'टाइप' तो वह बिल्कुल नहीं है। वह 'मूल रचना' है, 'प्रतिलिपि' नहीं।[1] आदर्श के ढाँचे में उसका व्यक्तित्व ढला हुआ नहीं है। अत: उसके व्यक्तित्व में यथार्थ का एक स्वाभाविक अनगढ़पन दिखाई पड़ता है। अक्खड़पन, अहंता, विद्रोह, बौद्धिकता, संवेदनशीलता, यौन-भावना की अतिशयता तथा कुण्ठा उसकी मन:स्थिति की विशेष वृत्तियाँ हैं। उसकी इन मानसिक प्रवृत्तियों का समग्रत: विश्लेषण उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में किया है।

शेखर अत्यधिक संवेदनशील है। अपने सम्पर्क में आने वाली हर नयी वस्तु और परिस्थिति के सम्बन्ध में वह जानकारी प्राप्त करना चाहता है यानी उसमें जिज्ञासा की तीव्र तड़प है। कभी तो वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अपनी जिजीविषा व्यक्त करता है, कभी मानव (शिशु) के जन्म-मरण के बारे में अपनी जिज्ञासा का परिशमन करना चाहता है। समग्रत: वर्जनाओं के आवरण को वह अनावृत करना चाहता है। उसकी जिज्ञासाओं का परिशमन न हो सकने के कारण उसकी चेतना पर ग्रन्थियों और कुण्ठाओं की पपड़ियाँ पड़ जाती हैं। इसी कारण कालान्तर में उनमें अनास्था और विद्रोह के तीव्र भावों का उद्रेक होता है। उसका विद्रोह इतना अधिक व्यापक है कि किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज विशेष तक परिसीमित न होकर उसके निजी स्वभाव और धर्म का रूप तक धारण कर लेता है। फलत: स्वयं के प्रति भी वह विद्रोही बन जाता है।

शेखर के व्यक्तित्व का विकास—**अहं, भय और सेक्स**—इन तीन बिन्दुओं

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, संस्करण 1966, पृ० 53

पर होता हुआ वृष्टिगत होता है। अहं-भाव प्रारम्भ से ही उसके अन्तरंग जीवन का स्वभाव और अंग बन चुका है। बचपन में—तीन वर्ष की अवस्था में वह एक लेटर बॉक्स पर सवार है, मानो जैसे कोई सम्राट् अपने घोड़े पर बैठकर संसार को ललकार रहा हो। वह सारे संसार से एक लेटर बॉक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है और संसार की क्षुद्रता पर हँसता तथा दूसरों का मजाक उड़ाता है। डाकिए के मना करने पर, प्रतिशोध के रूप में वह उस डाकिए के पाँवों को कुचलते हुए भाग खड़ा होता है तथा अपने-आपमें विजय तथा हर्षोल्लास का अनुभव करता है। वस्तुत: यह उसके अहं का प्रतीक तथा सूचक है।

अहं के बाद उसका साक्षात्कार भय से तब होता है, जब वह अजायबघर में फिरते हुए नकली बाघ को देखकर भाग खड़ा होता है। कालान्तर में उसने अपने अनुभव के आधार पर जान लिया कि 'डर डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ हैं, केवल एक घास-फूस से भरा निर्जीव चाम, जिससे डरना मूर्खता है।' अत: भविष्य के लिए वह पूर्णत: विश्वस्त हो गया कि "जब कभी कोई भयानक वस्तु देखो, तब डरो मत, उसका बाह्य चाम काट डालो, उसके भीतर भरी हुई घास-फूस निकाल कर बिखरा दो।" उसकी इस मान्यता और धारणा ने उसे (उद्धत, विध्वंसक और हिंस्र तो नहीं, किन्तु) पूर्णत: विद्रोही अवश्य बना दिया।

शेखर के व्यक्तित्व का विकास सिगमण्ड फ्रायड के यौन-सिद्धान्त के अनुरूप ही होता है। उसके सम्पूर्ण जीवन में यौन-भाव (सेक्स) किसी-न-किसी रूप में व्याप्त व सक्रिय है, जिससे संबद्ध एवं उद्भूत समस्याओं तथा मनोभावों का सूक्ष्म विश्लेषण उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने इस उपन्यास में किया है। जहाँ-कहीं शेखर किसी अनुचित अथवा वर्जित दृश्य को देखता है, तत्क्षण उसका मन यौन-भाव (सेक्स) से आन्दोलित हो उठता है। मनोविज्ञान का यह परीक्षित सत्य है कि मनुष्य विशेषकर, बच्चे निषिद्ध अथवा वर्जनाओं के प्रति अधिकाधिक मात्रा में जिज्ञासु व प्रवृत्त होते हैं। जिस मात्रा में वर्जनाएँ होती हैं, उसी अनुपात में बच्चे के मन में उस रहस्य की गहराई में प्रविष्ट होने की तीव्र उत्कंठा, लालसा और बलवती इच्छा जाग्रत होती है। शेखर के संदर्भ में यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त सौ-फी-शती सही प्रतीत होता है। मध्यम वर्गीय परिवारों की ही भाँति उसके परिवार में भी यौन-सम्बन्धों की चर्चा वर्जित है। अत: उसका यौन-भाव कुण्ठित हो जाता है। फिर बाद में चलकर वह अपनी इस यौनगत कुण्ठा का साक्षात्कार करता है, जो उसकी जीवन-यात्रा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आयाम है। इसके पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है कि शेखर घोर अहंवादी है। वस्तुत: उसका यौन-भाव भी उसके

अहं भाव का अंग बनकर व्यक्त होता है। एक ओर वह अपने सम्पर्क में आने वाले समस्त पुरुषों से सम्मान की आकांक्षा करता है तो दूसरी ओर स्त्रियों से प्रणय और प्यार। इस सन्दर्भ में एक बात और भी ध्यान देने की यह है कि वह केवल आदान चाहता है, प्रदान नहीं। वह कहता है "मुझे मूर्त्ति उतनी नहीं चाहिए, मुझे मूर्त्ति-पूजक चाहिए। मुझे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए, जिसकी ओर मैं देखूं, मुझे वह चाहिए, जो मेरी ओर देखे। यह नहीं कि मुझे आदर्श पुरुष नहीं चाहिए—पर उन्हें मैं स्वयं बना सकता हूँ। मुझे चाहिए आदर्श का उपासक, क्योंकि वह मैं नहीं बना सकता। अपने लिए ईश्वर-रचना मेरे बस में है, लेकिन मेरी ईश्वरता का पुजारी—वह नहीं।"[1] जिस किसी से भी उसका स्नेह अथवा प्रणय-सम्बन्ध स्थापित होता है, उस पर वह (शेखर) सम्पूर्ण रूप से अपना आधिपत्य अथवा एकाधिकार चाहता है, जो मनोविज्ञान-समर्थित है।

शेखर के यौन-भाव का विकास तीन बिन्दुओं पर होता है : आत्मरति, समलिंगी रति और विपरीत लिंगी रति। आत्मरति उसमें मुख्य रूप से वहाँ दिखाई पड़ती है, जहाँ भीतर से उसका 'आत्म'-पक्ष प्रबल होकर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपनी पूजा कराना चाहता है। उसकी समलिंगी रति जाग्रत होती है—अपने से एक वर्ष बड़े सहपाठी मित्र कुमार के प्रति। उसके अन्दर विपरीत लिंगी रति के भावों का अनेकशः उद्रेक उन समस्त नारियों के संदर्भ में होता है, जो कोई उसके सम्पर्क में आती है—चाहे वह सरस्वती हो, चाहे शीला, शारदा या शान्ति हो या चाहे शशि हो, यह सब उसके भावों का अतिरेक या व्यभिचार न होकर उसकी 'सहज बुद्धि' और उसके 'सहज विकास' का स्वाभाविक परिणाम है। यही कारण है कि उसकी सगी बड़ी बहन—सरस्वती उसे 'सरस', माँ 'मधुर' और मौसेरी बहन शशि 'सुन्दर', और 'उन्मद' तथा उसके व्यक्तित्व की 'पूरक' प्रतीत होती है। इस प्रकार, विद्रोही वह चाहे जिस किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति हो, किन्तु प्रारम्भ से ही वह अपने सम्पर्क में आने वाली तमाम नारियों के प्रति आकृष्ट, आसक्त और समर्पित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यौन-भाव ही उसके अन्तरंग चरित्र की मूल और विशिष्ट प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा वह परिचालित और निर्देशित होता है।

प्रेम और घृणा—दो ऐसी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आसंग में ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास, प्रत्येक स्तर पर होता हुआ दिखाई पड़ता है। लेखक के मतानुसार, सच तो बल्कि यह है कि "शेखर के जीवन को इन्हीं दोनों शक्तियों

1. शेखर : एक जीवनी, प्र० भाग, संस्करण 1966, पृ० 154

ने सम्भव बनाया—घृणा ने ही उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ खोकर भी संसार को ललकारे और वासना ने उसे जगाया कि वह चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।"[1]

'शेखर : एक जीवनी' के नायक का व्यक्तित्व-विकास—प्रेम, घृणा और वासना तीन बिन्दुओं पर होता है। प्रेम, घृणा और वासना की यह भावना क्रमशः उसके पिता, उसकी माँ तथा सरस्वती, शारदा, शान्ति और (सबसे बढ़कर) शशि आदि के सन्दर्भ में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है।

शेखर के मन में जो भाव प्रारम्भ में जिस रूप में बन चुके हैं, वे ही आगे चलकर उसके अन्दर संस्कार के रूप में सक्रिय होते हैं। शुरू में वह अपनी माँ से घृणा करता है और बाद में असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर विदेशी मात्र से घृणा करने लग जाता है। कालान्तर में उसकी घृणा का विस्तार विदेशी कपड़ों तथा विदेशी भाषा तक से हो जाता है। व्यक्तिवादी शेखर में सामाजिक दाय-बोध का नितान्त अभाव है, ऐसा मानना सर्वथा अनुचित होगा। उसमें पर्याप्त मात्रा में सहृदयता, मानवीय सहानुभूति, करुणा तथा संवेदनशीलता के तत्त्व संश्लिष्ट रूप में दिखाई पड़ते हैं। बचपन में मनोरंजन के लिए पिंजरे में बन्द पक्षियों को उड़ाकर उन्हें उन्मुक्त कर देने में उसे विशेष संतोष मिलता है। निम्न जातीय विधवा के यहाँ जाने तथा उसकी बेटी फूलाँ के साथ खेलने की उसकी मनाही की जाती है। किंतु उसके बावजूद उसका मन-प्राण सहानुभूति के भावों से आप्लावित हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शेखर 'दूर बैठे उस विधवा की पूजा तक करने लग गया···तथा फूलाँ भी उसके लिए एक पददलित देवी-सी हो गई।' कॉलेज-जीवन में वह मालाबार प्रदेश की यात्रा मात्र इसलिए करता है ताकि ब्राह्मणों द्वारा शोषित अछूतों के शोषण का अनुभव प्राप्त कर सके। वहाँ मरणासन्न नारी को पीठ पर लाद कर वह अस्पताल पहुँचाता है तथा एक असहाय महिला को गाड़ी में चढ़ाने में सहायता करता है, जिसके लिए उसे एक दूसरे व्यक्ति से झगड़ना भी पड़ता है, फिर आगे चलकर असहाय-निर्धन निरक्षर बालकों को पढ़ाने के लिए वह रात्रि-पाठशाला की स्थापना करता तथा उसमें स्वयं पढ़ाता है। घोर अहंवादी और विद्रोही प्रतीत होने वाला शेखर 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय, भीगी पलकों से देखता हुआ अपनी संवेदनशील मनोवृत्ति का परिचय देता है।

प्रेम और वासना : जीवन के दो ऐसे निर्मायक तत्त्व हैं, जो व्यक्ति के आत्म-विकास में सहायक सिद्ध होते हैं। वस्तुतः जीवन-यात्रा के वे ही पाथेय हैं, जिनका

1. शेखर : एक जीवनी प्रथम भाग,, संस्करण, 1966, पृ० 181

जीवन-पर्यन्त प्रयोग शेखर करता है। प्रारम्भ में उसका प्रेम घोर वैयक्तिक है किन्तु बाद में (वह प्रेम) नैतिक समस्या का रूप ग्रहण कर लेता है। वह कहता है : "सभी प्यार, प्यार मात्र—मूलतः एक समस्या है और दो इकाइयों तक सीमित नहीं है···कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आड़े, उस समस्या से उलझे हुए हैं और उसे विकट बनाते हैं····· मूल समस्या सामंजस्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, वह विचलन की समस्या है क्योंकि यह व्यापक है और मौलिक, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असंख्य धारों पर ! —सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है · तब तक समस्या है, जब तक कि उतना ही व्यापक सामाञ्जस्य फिर न खोज निकाला जाए···समस्या है और साधना है, तपस्या है···।" इस प्रकार, इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और वासना ही वह मूल संवेदना है, जो शेखर के व्यक्तित्व को आन्दोलित और स्थापित करती है। द्रष्टा शेखर की भी भोक्ता शेखर के सम्बन्ध में यही धारणा है कि 'यदि स्त्रियाँ न होतीं, तो शायद वह जी नहीं सकता।' इससे निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि प्रणय ही वह मूल प्रवृत्ति है, जिससे शेखर विभिन्न धरातलों से होकर गुजरने को अनुप्रेरित होता है। वस्तुतः अहं से ग्रस्त दीखने वाला शेखर अनन्य प्रेमी अथवा कहें 'रोमांटिक विद्रोही' है, जिसका व्यक्तित्व एकांगी न होकर सर्वथा संश्लिष्ट है।

उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में शशि का चरित्रांकन संवेदना के धरातल पर अत्यन्त तरल और लिजलिजे रूप में किया है। वह अहंवादी तो बिल्कुल नहीं है। विद्रोह उसमें अवश्य है, किन्तु संवेदना के धरातल तक ही सीमित। यही कारण है कि अपने प्रेमी शेखर के प्रति अपने सर्वस्व का स्वेच्छया समर्पण करने के बावजूद वह अपने आपको रमेश की परिणीता पत्नी ही मानती और कहती है। समर्पण की वह प्रतिमा है। उसमें आदान तो बिल्कुल नहीं है, केवल प्रदान और प्रदान ही है। एक स्थल पर वह अपने प्रेमी शेखर से कहती है : "मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और न कुछ दे सकती हूँ। अपने को मिटा देने में मैंने कंजूसी नहीं की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। पर, तुममें मेरा वह जीवन है, जो मैं हूँ, जो मेरा मैं है।···शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ और 'अमूर्त्त' होकर मैं—तुम्हारा अपना आप हूँ जिसे तुम नाम नहीं

दोगे।"[1] शशि आत्म-पीड़ा और आत्मोत्सर्ग में ही संतोष और सुख की अनुभूति प्राप्त करती है। शेखर के खातिर वह क्या सब नहीं करती है—पति का त्याग, भरा-पूरा घर-परिवार, समाज और लोक-लाज सबका सहर्ष न्योछावर करती-करती, अन्ततोगत्वा स्वयं अपने-आपसे भी टूट जाती है। उसका टूट जाना ही वस्तुतः उसकी मुक्ति है : जीवन-मुक्ति ! शशि का व्यक्तित्व भी, अवान्तर रूप से पूरे उपन्यास के आधार-फलक पर आयत्त है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे शशि ही शेखर के लिए जीवनसाध्य हो, जिसकी साधना वह आजीवन करता है। वस्तुतः प्रणय की परिणति और पराकाष्ठा वहीं होती है, जहाँ देह का देह से और आत्मा का आत्मा से, एकरूपात्मक सम्मिलन स्थापित हो जाये। शेखर और शशि का पारस्परिक सम्बन्ध समग्रतः भावना से 'भावना तक भटकता हुआ एक विचार' है और शशि, शेखर के लिए 'चिरन्तन प्रेरणा' और 'मोक्षदा' सिद्ध होती है।

उपन्यास में कतिपय अन्य गौण पात्रों, जैसे बाबा मदनसिंह, मोहसिन तथा रामजी के चरित्र का नियोजन, वैचारिक प्रतीकों के रूप में किया गया है। बाबा मदनसिंह के विचार-दर्शन से शेखर अथोर प्रभाव ग्रहण करता है। उनके दो-तीन सूत्रों से बेहद प्रभावित होता हुआ शेखर उनमें अपने जीवन-सूत्रों को पहचानने की कोशिश करता है। वे सूत्र हैं :

(क) 'पीड़ा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योंकि वही सबसे बड़ी पीड़ा है।"[2]

(ख) "अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है पर दर्द से बड़ा एक विश्वास।"[3]

(ग) "·····अहंकर स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी पड़ती है।'[4]

शेखर का व्यक्तित्व वेदनापरक है। वेदना का प्रस्फुटन उसके अन्तर्चरित्र से होता है। अतः उसकी वेदना स्वभाव-जन्य है। उपन्यासकार की मान्यता है कि "वेदना एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।" शेखर जान-बूझकर 'दुःख के आँचल' में विश्राम करना चाहता है। क्योंकि

1. शेखर : एक जीवनी, भाग दो, पृ० 166
2. वही, पृ० 83
3. वही, पाँचवाँ संस्करण, पृ० 96
4. वही, पृ० 64

वह मानता है कि "दु:ख संसर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दु:ख का संसर्ग परिवर्त्ती को भी शुद्ध और उदात्त बनाता है।"[1] वस्तुत: दु:ख की छाया एक तरह की तपस्या है,[2] जिसकी ताप में शेखर की आत्मा शुद्ध होती है।

ऊपर के समग्र विवेचन के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि "शेखर : एक जीवनी' में चरित्र-विश्लेषण की प्रधानता है। शेखर मुख्यत: अन्तर्मुखी है। वह सैद्धान्तिक अधिक है, व्यावहारिक कम। इसका मतलब यह नहीं है कि व्यावहारिकता से वह अछूता अथवा वंचित है। हाँ, यह अवश्य है कि उसका सैद्धान्तिक पलड़ा अधिक झुका हुआ है। इस तरह पूरे उपन्यास में उसका चरित्र अंतरंग बन गया है। अंतरंग चरित्र होने के कारण उसका बाह्य-चित्रण कम, आन्तरिक चित्रों की भरमार और अधिकता है। यही कारण है कि यह उपन्यास अभिधात्मक न होकर सर्वथा अभिव्यंजनात्मक हो गया है।

नदी के द्वीप

'शेखर: एक जीवनी' की ही भाँति 'नदी के द्वीप' भी प्रधानत: चरित्र-विश्लेषण का उपन्यास है। उपन्यास का चरित्र-नायक अथवा सबसे प्रमुख पात्र है—भुवन। अत: सम्पूर्ण रचना में उसी के चरित्र की अंतरंगता का उद्‌घाटन, विश्लेषण और उसकी संवेदन की सूक्ष्मता का अंकन प्रधान हो गया है। उसके अलावा—रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव तीन और भी पात्र हैं, जिनके चरित्र उद्‌घाटित व विश्लेषित हो सके हैं। इस कारण, समग्रत: इसे चरित्र-प्रधान अथवा चरित्र-मूलक उपन्यास मानना ही उचित होगा। स्वयं अज्ञेय का भी इस सम्बन्ध में यही अभिमत है कि 'नदी के द्वीप' व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। ×××वह व्यक्ति-चरित्र का, चरित्र के उद्‌घाटन का उपन्यास है।"[3]

प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में जिन व्यक्ति-चरित्रों को विश्लेषित किया गया है, वे चरित्र आरोपित न होकर खासा मनोवैज्ञानिक हैं। इसलिए कहीं भी और कभी भी वे अपरिचित और अनजान बनकर हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं होते। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपनी इस कृति में पात्रों अथवा चरित्रों के अन्तर्भावों का विश्लेषण मनोविज्ञान की सैद्धान्तिक प्रयोगशाला में रखकर किया है। यही कारण

1. 'शेखर : एक जीवनी', पांचवां संस्करण, पृ० 30
2. वही, पृ० 31
3. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ०72

है कि इसके चरित्र-विधान तथा शिल्प-विन्यास में अधुनातन मनोवैज्ञानिक विधियों, जैसे—पूर्व-दीप्ति अथवा प्रत्यक्-दर्शन प्रणाली (Flash back style), चेतना प्रवाहांकन (Stream of Consciousness) एवं अन्तर्चित्रों (Inside views) आदि को प्रयुक्त किया गया है।

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के बाल्य-काल से जीवन के अन्तिम पड़ाव तक के चरित्र को उद्घाटित किया गया है। उसमें बाल-मनोविज्ञान से वयस्क मनोविज्ञान तक को उरेहा गया है; क्योंकि शेखर बनने और बढ़ने की अवस्था और प्रक्रिया से होकर गुजर रहा है, जबकि 'नदी के द्वीप' के सभी पात्र मुख्यत: भुवन वयस्कावस्था के उपरान्त अपनी यात्रा शुरू करते हैं। यही कारण है कि इन पात्रों के चरित्र में कई प्रकार की ग्रन्थियाँ, यौन-भावना, कुण्ठा तथा अभिजात्य भावातिशयता अपने नैसर्गिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। शेखर का चरित्रांकन उसकी अपरिपक्वावस्था से शुरू होता है। इसलिए उसके चरित्र में उतार-चढ़ाव अधिक है। किन्तु 'नदी के द्वीप' के पात्रों के चरित्र-चित्रण में उस हद तक उतार-चढ़ाव नहीं है, क्योंकि उपन्यास में उनका अवतरण प्रौढ़ और पूर्ण विकसित रूप में होता है। अज्ञेय ने स्वयं अपना सहमतित्व इन शब्दों में व्यक्त किया है। "....शेखर में व्यक्तित्व का क्रमश: विकास होता है' 'नदी के द्वीप' में व्यक्ति आरम्भ से ही सुगठित चरित्र लेकर आते हैं।"[1] ठीक इसी तथ्य को डॉ०रामस्वरूप चतुर्वेदी ने दूसरे लहजे में स्वीकार करते हुए लिखा है : "शेखर की तुलना में भुवन का व्यक्तित्व प्रौढ़ और विकसित है। लगता है कि बाह्य संघात का जो प्रभाव उस पर पड़ना था, पड़ चुका। अब वह व्यक्तित्व-संघटन के सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तत्त्वोंके संधान में है।"[2] इस सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे, 'नदी के द्वीप' का भुवन 'शेखर' का ही परिवर्द्धित, विकसित और परिष्कृत संस्करण हो। फिर भी, शेखर में जो संश्लिष्टता, कसावट, ऊर्जा और विद्रोहमूलक जीवन्तता है, भुवन में उसका अभाव नहीं, तो आनुपातिक अभाव अवश्य है। रेखा का चरित्र निश्चय ही शशि की तुलना में अधिक वस्तुनिष्ठ, आत्म-निर्भर और संघर्षशील है। शशि समर्पण की मिट्टी से बनी प्रतिमा है। इसलिए समग्रत: वह काव्यमयी है, बल्कि कहें वह गीतिमयी है। उसका पूरा का पूरा व्यक्तित्व एक प्रकार का गीतात्मक टेक बन गया है तथा उसके अन्तर से एक विशेष प्रकार की काव्यात्मक अर्थवत्ता का प्रस्फुटन होता है। रेखा गद्यमयी है। उसमें गद्य की लयात्मकता सुरक्षित है।

1. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 72
2. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, पृ० 95

अतः उसके व्यक्तित्व में तात्विकता की संघटना और संरचना का प्राचुर्य मिलता है।

'शेखर : एक जीवनी' की तरह ही 'नदी के द्वीप' में भी 'वेदना' के महत्त्व को पुरजोर तौर पर स्वीकारा गया है। इस 'वेदना' अथवा 'यातना' के आलोक में ही शेखर अपने दृष्टिकोण का निर्माण और विकास करता है। 'नदी के द्वीप' के पात्रों के चारित्रिक विकास में भी यह 'दुःख' अथवा 'पीड़ा' तत्त्व अधिक सहायक व उपादेय सिद्ध होता है। इसके माध्यम से ही भुवन 'मुक्ति' की तलाश करना चाहता है। रेखा ने बार-बार 'वेदना' के महत्त्व को समझा-बूझा, स्वीकारा तथा उसे आत्मसात् किया है। रेखा आत्म-पीड़न के मूल्य पर भुवन और गौरा के प्रति संवेदनशील बनती तथा भुवन को अपने-आपसे मुक्त करती है। गौरा का चरित्र भी कुछ इसी प्रकार का है। वियोग और विरह में ही वह विशेष आनन्द का अनुभव करती है। इससे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासकार अज्ञेय ने पीड़ा अथवा वेदना को समग्रतः एक सबल तत्त्व और दर्शन के रूप में अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। **'दुःख सबको माँजता है'**—इस सूत्र के विशेष संदर्भ में ही प्रायः सभी पात्रों के चरित्र को विश्लेषित किया गया है। अन्ततः एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य यह है कि इस उपन्यास के व्यापक फलक पर जिस वेदनावाद को अभिव्यक्ति दी गई है, वह समष्टिमूलक न होकर अधिकांश तौर पर व्यष्टिमूलक ही है। इस दृष्टि से कुल मिलाकर, निष्कर्ष यह हाथ लगता है कि 'शेखर : एक जीवनी' के पात्रों की तरह 'नदी के द्वीप' के व्यक्ति-पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में बाह्य संघात कम, आन्तरिक आलोड़न-विलोड़न अधिक है।

एक बात और भी विशेष रूप से कथनीय यह है कि 'नदी के द्वीप' की कथात्मक संघटना 'शेखर : एक जीवनी' की अगली कड़ी है यानी परिशिष्ट व प्रस्तावित रूप में 'शेखर : एक जीवनी' भाग तीन। इसलिए इसके पात्र भी 'शेखर : एक जीवनी' के पात्रों के अगले संस्करण के रूप में ही परिलक्षित होते हैं। कम-से-कम रेखा के चरित्र से यह बात अधिक स्पष्टता से व्यक्त होती है कि वह शशि का विकसित रूप है, क्योंकि शशि के चरित्र में जो मूल विशेषताएँ अंतर्निहित हैं, उनकी परिणति, एक प्रकार से शशि के चरित्र और व्यक्तित्व में होती है। शशि की तरह रेखा भी केवल प्रदान में विश्वास करती है, जबकि चन्द्रमाधव में आदान की तीव्र आकांक्षा है। निष्कर्षतः अज्ञेय की दृष्टि में "...वास्तव में उपन्यास के प्रतिचरित्र रेखा और चन्द्रमाधव हैं। रेखा भावना की सच्चाई के प्रति समर्पित है, चन्द्रमाधव सहज प्रवृत्ति की तृप्ति को ही अपना

लक्ष्य बनाता है। रेखा का आदर्श है दान, चन्द्रमाधव का लब्धि। इसलिए रेखा में ईर्ष्या नहीं है और चन्द्रमाधव में प्रेम उसके बिना मानों अभिव्यक्ति ही नहीं पा सकता।"[1]

अपने-अपने अजनबी

'अपने-अपने अजनबी' नितान्त रूप से चरित्र-विश्लेषण का उपन्यास है। शीर्षक का अन्तिम 'अजनबी' शब्द व्यक्ति का उपवाच्य है। अत: अवान्तर रूप से यह पद व्यक्ति-चरित्र को संकेतित करता है। पूरा-का-पूरा उपन्यास तीन भागों में विभक्त है : 'योके और सेल्मा' 'सेल्मा' और 'योके'। यह विभाजन योके और सेल्मा के चरित्र को ही चतुर्दिक रूप से व्यञ्जित करता है। प्रकारांतर से यों कहें कि उपन्यासकार का अभीष्ट योके और सेल्मा के चरित्र का उद्‌घाटन भर करना है। यह बात दूसरी है कि अज्ञेय का अन्तिम उद्देश्य इन दोनों प्रतीक पात्रों के माध्यम से अपनी अस्तित्ववादी उपपत्तियों का प्रस्तुतीकरण करना रहा हो। लेकिन इतनी बात तो निश्चित है कि अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए उन्हें चरित्र-विधान की राह में से विवशत: गुजरना पड़ा है। दूसरे शब्दों में यह कहना शायद अधिक जायज होगा कि 'अपने-अपने अजनबी' का चरित्र-विधान उपन्यास और उपन्यासकार की रचना-प्रक्रिया का अंग बन गया है। संभवत: यही कारण है कि इसमें आगत दोनों ही प्रमुख पात्र (योके और सेल्मा) दर्शन की मिट्टी से बने प्रतीक-प्रतिमा के रूप में उपन्यास में संचरण करते हैं। चूंकि दोनों पात्र परस्पर दो विलोम दृष्टि और दर्शन के प्रतीक रूप में गृहीत किये गए हैं, इसलिए दोनों के चरित्र में परस्पर विरोध भी दिखाई पड़ता है। अब, सेल्मा और योके के चरित्र का पृथक्-पृथक् विवेचन तथा अध्ययन करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सेल्मा : सेल्मा कैन्सर से पीड़ित और ग्रस्त है। वह मरणासन्न है। मरना चाहती है। किन्तु, उसकी नियति मृत्यु को भी वरण करने नहीं देती। अत: वह विवश है—निराश तो पहले से ही है। जीना भी चाहती है, लेकिन अन्तत: उसकी परिणति 'मृत्यु' में ही होती है। इस प्रकार, विवशता का वरण करना, उसकी बेबस नियति है। सेल्मा का चरित्र सर्वथा आत्म-केन्द्रित, दमित और अहंवादी है। इतना सब होने के बावजूद वह आस्तिक और आस्थावादी है। वस्तुत: अपने सम्पूर्ण रूप में वह आस्था, बल्कि कहें कि भारतीय आस्था का प्रतीक है। कहते हैं

1. आत्मनेपद, पृ० 84

कि मृत्यु के करीब आने के दिनों में मनुष्य अधिक चिड़चिड़ा बन जाता है। सेल्मा के चरित्र से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। उसके चिड़चिड़ापन और बेहद रूखेपन के कारण ही योके ने उससे पूछा था : 'आण्टी, आपको क्या मेरा यहाँ रहना कष्टकर लगा ? सेल्मा में निराशा है, फिर भी वह जिए जा रही है। उसमें आस्था, तर्क और बौद्धिकता की एक लय है। अत: कुल मिलाकर, उसमें दार्शनिक चेतना, बौद्धिकता, रहस्यात्मकता और जिज्ञासा का समवेत् सामञ्जस्य दिखाई पड़ता है। ऐसा लगता है जैसे उसके व्यक्तित्व के भीतर से पौर्वात्य जीवन-दृष्टि और चिन्तनाएँ दीपक की लौ की तरह फूट पड़ती हैं और कालान्तर में उसी लौ की आभा के माध्यम से योके अपनी मान्यताओं पर आवृत घने कुहासों को फाड़कर जीवन की इयत्ता को आस्था के प्रकाश में पहचानने का प्रयास करती है।

योके : युवती योके यायावर है। नियति (जिसे, वह संयोग या 'Chance' मानती है) के वशीभूत होकर कैन्सर से ग्रस्त और मरणासन्न बुढ़िया—सेल्मा के साथ उसके कन्नुमा काष्ठ-गृह में कैदी बन जाती है। इस तरह उसके साथ उसका रहना बाध्यता है। योके उस बाध्यता और बंधन को झकझोर कर तोड़ देना चाहती है, ताकि बंधन-मुक्त और स्वतंत्र हो सके। किन्तु, ऐसा न कर पाना उसकी बेबसी है। हर क्षण वह स्वतंत्रता की तलाश में निमग्न है। जीवन की बाध्यता से बाधित होने के बावजूद उसका व्यक्तित्व अधिकांशत: स्वतंत्र-जीवी है। वस्तुत: समग्रता में वह जीवन को जीना चाहती है। समग्रता काल के अर्थ में नहीं, वरन् भावना, विचार, चिन्तन और दर्शन के अर्थ में। वह अर्थ और अभिप्राय, चाहे क्षण की पूर्णता में ही क्यों न प्राप्त हो जाए। अन्तत: योके अर्थ के अन्वेषण के प्रति अहर्निश सचेष्ट दिखाई पड़ती है। सेल्मा के कुण्ठित परिवेश का किञ्चित प्रभाव उस पर अवश्य पड़ता है, फिर भी कुण्ठा का यह प्रभाव उसके व्यक्तित्व को दबोच नहीं पाता। बल्कि सच तो यह है कि स्वयं योके ही कुण्ठा के अस्तित्व और मूलस्रोत का, सेल्मा का गला घोंटकर नष्ट कर देने के लिए उद्धत हो जाती हैं। इसके पीछे उसका कोई अपराध-मनोविज्ञान न होकर उसकी जीवन-प्रक्रिया की जीवन्त चेतना ही सक्रिय रूप में दिखाई पड़ती है।

योके का जीवन-दर्शन सेल्मा से बिल्कुल भिन्न है। विरोध की मन:स्थिति में भी जीने के लिए वह बाध्य है। इस बाध्यता को अनुभूति व संवेदना के स्तर पर झेल और भोग लेती है। विचार के स्तर पर नहीं ला पाती। वह सोचती और कहती है : "साधारणतया मैं उसकी ओर प्राय: नहीं देखती, क्योंकि मुझे डर लगा रहता है कि कहीं मेरी आँखों में कोई छिपा हुआ विरोध-भाव उसे न दीख जाय;

क्या फायदा, जब इस कब्र-घर में जितने दिन साथ रहना है रहना ही है···।"[1] सेल्मा और योके में परस्पर वैचारिक वैषम्य और विरोध है। फिर भी योके अपने विरोध या मत-भेद को इंगित या व्यंजित नहीं करती। झेलने को वह सब कुछ झेल लेती है, किन्तु समझौता बिल्कुल नहीं कर पाती। दरअसल, न तो वह अपनी परिस्थितियों से समझौता कर पाती है, न सेल्मा से और न स्वयं अपने-आप से। इस प्रकार, इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उपन्यासकार अज्ञेय ने योके के माध्यम से आधुनिकता की चुनौती को स्वीकृति प्रदान की है।

अन्त में, योके जर्मनों द्वारा वेश्या बना दिये जाने पर एक अच्छे आदमी—जगन्नाथन की तलाश कर जहर खाकर आत्महत्या कर लेती है—मृत्यु का वरण कर लेती है। वस्तुतः यह अनास्था का आस्था के प्रति प्रामाणिक समर्पण है। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है, जैसे योके हाड़-माँस की न होकर चिन्तन, विचार और दर्शन की प्रतिमा है। अन्ततः उसकी प्रतीकात्मकता निर्विवाद और स्वयंसिद्ध है। प्रतीक स्थूल नहीं—सूक्ष्म होता है। अतः तार्किक दृष्टि से देखने पर निसर्गतः ऐसा प्रतीत होता है कि योके प्रतीक है—सूक्ष्म है।

'अपने-अपने अजनबी' के अन्य पात्र—**पाल, यान, फोटोग्राफर** एवं **जगन्नाथन** अत्यन्त गौण हैं। इन गौण पात्रों में जगन्नाथन का चरित्र किंचित् अधिक सशक्त रूप में उभरता दीख पड़ता है। उनका महत्त्व कथा को केवल आगे बढ़ाने में अधिक है। हाँ, जगन्नाथन् के चरित्र के माध्यम से निश्चय ही मानव-मूल्यों को कुछ हद तक उजागर करने का प्रयास किया गया है।

ऊपर के समस्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय के उपन्यासों का रचना-विधान क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर दिशोन्मुख है। **'शेखर : एक जीवनी'** के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त **'नदी के द्वीप'** में प्रतीकीकृत होकर उपस्थित होते हैं और **'अपने-अपने अजनबी'** में चिन्तन और दर्शन की सूक्ष्मता का रूप धारण कर लेते हैं। अंततः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्र क्रमशः चिन्तनपरक और प्रतीकात्मक रूप धारण करते गये हैं। वस्तुतः चिन्तक-विचारक अज्ञेय की विकास-यात्रा की उर्ध्वमुखी गतिशीलता का यह परिणाम है, ऐसा मानना मेरी समझ से अधिक उचित होगा।

कथोपकथन

उपन्यास में कथोपकथन अथवा संवाद का महत्त्व दुहरा होता है : एक तो इससे कथानक को बल मिलता है यानी कथावस्तु के विकास में यह सहायक

1. अज्ञेय : अपने-अपने अजनबी, तृतीय संस्करण, पृ० 18

होता है और दूसरी बात जो विशेष महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि इसके माध्यम से पात्रों का चरित्र अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। अज्ञेय के तीनों ही उपन्यासों में कथोपकथन का निरूपण और उपस्थापन लगभग इसी दृष्टि से किया गया है। चूंकि इनके उपन्यासों में मनोविश्लेषण का प्राधान्य है, अत: कथोपकथन अधिक कारगर प्रतीत होते हैं। हाँ, इतनी बात जरूर है कि इनके पात्रों के कथोपकथन लम्बे कम, छोटे अधिक हैं। पर छोटे-बड़े दोनों प्रकार के कथोपकथनों का नियोजन उनकी औपन्यासिक कृतियों में उपलब्ध होता है।

'शेखर : एक जीवनी' मूलत: आत्मकथात्मक उपन्यास है। अत: इसमें आत्म-विश्लेषण की गुंजायश अधिक है और साथ ही आत्म-संभाषण की भी। जैसे, एक स्थल पर शेखर कहता है : 'आत्मकथा लिखना एक प्रकार का दंभ है—उसमें यह अहंकार है कि मेरे जीवन में कुछ ऐसा है जो कथनीय है, देय है, रक्षणीय है, स्मरणीय है···हो सकता है कि ऐसा हो, किन्तु व्यक्ति स्वयं यह दावा करने वाला कौन होता है ? भूसी स्वयं नहीं कहती कि यह देखो, मेरी कोख में प्राणद अन्न है—यह अन्न दूसरे की देह में बल बनकर बोलता है···

किन्तु क्या मैं ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ ? क्या यह आत्म-प्रकाशन है ? क्या अब भी मेरा मर्म नहीं कहता कि 'जो मेरा है, जो सारभूत है, जिसमें मैं सिक्त और अभिषिक्त हूँ, उसे छिपा लो !'[1]

एकाधिक पात्रों के पारस्परिक संभाषण अथवा कथोपकथन के माध्यम से भी कथा का विकास होता है और साथ ही साथ पात्रों के व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। 'शेखर : एक जीवनी' से कतिपय उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं :

शेखर ने सरस्वती से पूछा, 'मरते कैसे हैं ?'

'मर जाते हैं, और क्या ?'

'मरकर क्या होता है ?'

'पागल ! जान नहीं रहती, चल-फिर-बोल नहीं सकते, तब ले जाकर जला देते हैं।'

'डूबने से ऐसे ही मर जाते हैं ?'

'हाँ।'

'क्यों मरते हैं ?'

'साँस बन्द हो जाती है, तब जान निकल जाती है।'[2]

1. 'शेखर : एक जीवनी' भाग दो, पाँचवां संस्करण, पृ० 202-203
2. 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० 83

उपन्यासकार अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में भावना और संवेदना की गहनता-सघनता को व्यक्त करने के लिए भी कथोपकथन को प्रयुक्त किया है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के कथोपकथन की प्रकृति अधिकांशतया आन्तरिक बन गई है। इससे, स्वभावतया वे कथोपकथन अति भावुकतापरक और सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के बतौर निम्नांकित पंक्तियों को उद्धृत कर सकते हैं :

'शशि, दर्द होता है ?'

× × ×

'बताओ, शशि, क्यों, क्या होता है ? क्या होता है···'

'सुख, शेखर, सुख ।'[1]

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण द्रष्टव्य है :

'तुमने क्या निश्चय किया, शेखर ?'

'मुझे आवश्यकता नहीं पड़ी — तुम फिर आ गई—तुम मेरे जीवन में चली आई— मैं नहीं जानता था कि किसके लिये लड़ूँ, पर तुम मेरे पास थीं, तुम्हारे लिए मैं लड़ने लगा—या उद्योग करने लगा लड़ने का। शशि, मैं निरन्तर संघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लड़ता आया हूँ, पर अब स्वीकार करता हूँ कि मैंने तुम्हें प्यार किया है। लड़ने में अपना श्रेष्ठतम मैं देता आया हूँ, क्योंकि मैंने तुम्हारे लिये दिया है। बीच में शंका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योंकि तुम किसी कोरे आदर्श से कम नहीं थीं···किन्तु मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सन्देह···शशि, क्या मैंने पाप किया है ?'

'शेखर, मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है। पाप मैंने कभी नहीं किया।'[2]

एक बात इस सन्दर्भ में और भी विशेष रूप से यह कहनी है कि 'शेखर : एक जीवनी' के कथोपकथन में उद्धरण-शैली की भरमार है। पात्र दूसरे कवियों—लेखकों की पंक्तियों को अपनी पुष्टि के लिए बार-बार उद्धृत करते हैं। वस्तुतः यह प्रभावातिशयता तथा मोह की तन्मयता पात्रों की न होकर, स्वयं उपन्यासकार की अपनी है।

नदी के द्वीप, 'शेखर : एक जीवनी' कीही भाँति 'नदी के द्वीप' के कथोपकथन (संवाद) भी एक ओर कथानक को अग्रसर करते तथा दूसरी ओर पात्रों के चरित्र

1. शेखर : एक जीवनी, भाग दो, पृ० 243
2. वही, भाग दो, पृ० 242

को इंगित व व्यञ्जित करते हैं। 'नदी के द्वीप' प्रेममूलक उपन्यास है। अतः इसके कथोपकथन अधिकांशतः एतद् भावों के ज्ञापक हैं। जैसे 'पगली, चाँदनी बहुत है, सब पी न सकोगी। चलो, जमी जा रही हो ठंड से—ऐसे तो तुम्हीं चाँदनी हो जाओगी।' और 'मुड़ तो गये, यह भी जानते हो कि किधर जाना है ?'

भुवन ने भोलेपन से कहा, 'न, तुम ले जा रही हो, मैं जा रहा हूँ। दैट इज ऑल आई नो एण्ड नीड टु नो।'

'शेखर : एक जीवनी' के पात्रों की तरह 'नदी के द्वीप' के पात्र भी उद्धरणों का बहुविध प्रयोग करते हैं। जैसे, रेखा एक जगह कहती है :

'ग्रीफ़, ग्रीफ़, आइ स्पोज एण्ड सफ़ीशेंट
ग्रीफ़ मेक्स अस फ्री
टु बी फेथलेस एण्ड फेथफुल टुगेदर
ऐज़ वी ऑल हैव टु बी।'[1]

'नदी के द्वीप' में प्रयुक्त कथोपकथनों में वैविध्यता का दर्शन होता है। इसमें कहीं तो प्रत्याह्वान के द्वारा स्मृति-शैली मिलती है, कहीं लेखन-शैली और कहीं-कहीं (डॉ० रणवीर रांग्रा के शब्दों में) 'आंतरायिक' (इण्टरमिटेन्ट) शैली उपलब्ध होती है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप' के कथोपकथन (संवाद) में परम्परा मुक्त शैली का बहुविध प्रयोग मिलता है।

अपने-अपने अजनबी : 'अपने-अपने अजनबी' परस्पर दो विरोधी दर्शन, चिन्तन-दृष्टि और उपपत्तियों का उपन्यास है और इसके दोनों पात्रों के माध्यम से इन परस्पर विरोधी भावों को अभिव्यक्ति मिली है। इसके दोनों पात्र—सेल्मा और योके मांसल कम, मानसिक अधिक हैं। अतः इनके कथोपकथनों (संवादों) में अतिरिक्त तार्किकता मिलती है। इनके द्वारा भाषिक कथोपकथनों का प्रयोग बहुत कम होता है। जहाँ होता भी है, वहाँ अपनी-अपनी चिन्तन दृष्टि की पुष्टि के लिये ही। किन्तु एक बात यह है कि इन कथानकों की शाब्दिक देह तो छोटी होती है, पर अर्थ में गाम्भीर्य और विस्तार अधिक होता है। अन्ततः इसके कथोपकथन (संवाद) मनोवैज्ञानिकता, दार्शनिकता, बौद्धिकता और तार्किकता से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये सेल्मा और योके के इस वार्तालाप को देख सकते हैं :

'बुढ़िया ने पूछा : 'योके, तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है ?'

1. नदी के द्वीप, पृ० 262

मैंने (योके ने) रुखाई से कहा : 'क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है—क्योंकि हम सबको मरना है।'[1]

प्रस्तुत उपन्यास के कथोपकथन में आत्म-संभाषण का भी बहुविध प्रयोग किया गया है। जैसे : 'मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यों मानूं ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी—लेकिन जब नहीं रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ—कि मैं मर चुकी हूँ ? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं—या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है ? वह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसलिए हमारे साथ भी होगा।'[2]

स्पष्ट है कि 'अपने-अपने अजनबी' के कथोपकथन में दार्शनिकता, बौद्धिकता और तार्किकता का एकजुट प्रयोग मिलता है। इस प्रायोगिकता की सफलता के मूल में उपन्यासकार अज्ञेय की सर्जनात्मक भाषा अधिक सक्रिय है।

देशकाल अथवा वातावरण

उपन्यास में कोई-न-कोई कथात्मक संघटना होती है। कथा किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज की होती है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कथा क्षीण और गौण होती है। उसमें प्रमुखता होती है—व्यक्ति-चरित्र के विश्लेषण के उद्घाटन की। व्यक्ति पर वातावरण या उसके परिवेश का बेहद प्रभाव पड़ता है। वुडवर्थ (Woodworth) व्यक्ति को वंशानुक्रम (Heredity) और वातावरण (Environment) का गुणनफल मानता है। इसका मानी है कि व्यक्ति के निर्माण और विकास में उसके वातावरण अथवा परिवेश का बहुविध महत्त्व होता है। अत: उपन्यासकार से यह पूरी तरह अपेक्षा की जाती है कि पात्रों के व्यक्तित्व-निर्धारक परिवेश को भी ठीक-ठीक विन्यस्त करे। पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र-विश्लेषण तथा उसके मूल्यांकन के लिए देशकाल और वातावरण नितान्त रूप से सहायक होता है। इस दृष्टि से अज्ञेय के उपन्यासों के देशकाल और वातावरण पर विचार करें।

1. अपने-अपने अजनबी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ 24
2. वही, पृ० 50

शेखर : एक जीवनी : काल की दृष्टि से अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी' स्वातन्त्र्य-पूर्व लिखित व प्रकाशित उपन्यास है। जिन दिनों यह उपन्यास लिखा जा रहा था, उन दिनों संघर्ष का तूफान ज़ोरों पर था। हर जगह अशान्ति का वातावरण बना हुआ था। ऐसे ही संघर्ष और अशान्त देशकाल और वातावरण में 'शेखर : एक जीवनी' का लेखन-प्रकाशन हुआ। अत: स्वाभाविक है कि इसमें संघर्ष, विद्रोह और अहमन्यता हो और है भी। इसका एक और भी सबसे बड़ा और सशक्त कारण यह है कि लेखक अज्ञेय का भी बड़ा सघन और गहरा सम्बन्ध स्वतन्त्रता-आन्दोलन से रहा है। अत: भोगे हुए उन महत्त्वपूर्ण अनुभवों को उन्होंने इस उपन्यास में सम्प्रेषित करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि 'शेखर : एक जीवनी' में व्यक्त अनुभव स्वयं उपन्यासकार अज्ञेय के संघर्षरत अनुभवों के 'शेड्स' के रूप में विन्यस्त हो सके हैं और कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि उपन्यास में व्यक्त अनुभव 'शेखर' के न होकर स्वयं अज्ञेय के हैं। मेरी दृष्टि में, यही अज्ञेय की अनुभूतिगत ईमानदारी का सबसे बड़ा सबूत भी है। स्वातन्त्र्य-पूर्व भारत में परिव्याप्त अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, जातिवाद, स्वार्थपरता, राष्ट्रीयता तथा संघर्षशीलता आदि को उपन्यासकार ने इस उपन्यास में उरेहने का प्रयास किया है। लहरों के झंझावात से जैसे नदी के तट और किनारे कट-फट जाते हैं, वैसे ही संघर्ष, क्रान्ति और विद्रोह के तूफानी परिवेश में व्यक्ति-मन आक्रान्त होकर, कुण्ठा और संत्रास से बोझिल बन जाता है। इसका परिणाम है : टूटन-घुटन और समग्रत: व्यक्तित्व का खण्डन। संघर्ष और विद्रोह के कारण व्यक्ति समाज से कटता हुआ अपने-आप में सिमटता गया—अपने-आपको अपने ही घरौन्दे में समेटता गया, जिसकी परिणति-व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन में हुई। 'शेखर : एक जीवनी' में, इसीलिए व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन और मनोविज्ञान को अधिकाधिक महत्ता प्राप्त हुई है। उसमें 'शेखर' की वैयक्तिक अनुभूति और संवेदना की प्रधानता तो है ही किन्तु युग, परिवेश और समाज का बिम्ब भी काफी गहरा उतरा है। अज्ञेय के शब्दों में : **"शेखर निस्सन्देह एक व्यक्ति का अभिन्नतम निजी दस्तावेज**, a record of personal suffering **है, यद्यपि वह साथ ही उस व्यक्ति के युगसंघर्ष का प्रतिबिम्ब भी है। इतना और ऐसा निजी वह नहीं है कि उसके दावे को आप 'एक आदमी की निजी बात' कहकर उड़ा सकें; मेरा आग्रह है कि उसमें मेरा समाज और युग बोलता है कि वह मेरे और शेखर के युग का प्रतीक है···।"**[1] स्पष्ट है कि 'शेखर : एक जीवनी' में वैयक्तिक चेतना के साथ ही साथ सामाजिक परिवेश को भी रेखांकित किया गया है। शेखर के कॉलेज-

1. शेखर : एक जीवनी, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० 10

जीवन के चित्रों के माध्यम से समसामायिक युवकों की कर्मठता, संघर्षशीलता, राष्ट्रीय चेतना, सामाजिकता तथा सुधारवादी मनोवृत्तियों को विवेचित-विश्लेषत किया गया है। शिक्षण-संस्थाओं से निकल कर जीवन में प्रवेश करने के बाद जीविकोपार्जन के लिए जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसको स्पष्टत: इंगित किया गया है, साथ ही सम्पादकों और प्रकाशकों की शोषण-नीति का भी प्रकारान्तर से अनुभूति के स्तर पर पर्दाफाश किया गया है। इस प्रकार देश-काल और वातावरण के चित्रण की दृष्टि से 'शेखर : एक जीवनी' की सफलता निर्विवाद और स्वयंसिद्ध है।

नदी के द्वीप : 'नदी के द्वीप' मूलत: रोमन्टिक उपन्यास है। अत: संवेदना, भावना, अनुभूति और संवेग की बुनावट से यह निर्मित है। काल की दृष्टि से यह स्वातंत्र्योत्तर युग (सन् 1952 ई०) की रचना है। पर स्वातंत्र्योत्तर मनोवृत्तियों अथवा परिवेशों का इसमें कोई स्पष्ट चित्र नहीं उपलब्ध हो पाता। वस्तुत: 'नदी के द्वीप' अपने पूरे वृत्त और अर्थ में आधुनिक उपन्यास है। अत: इसमें आधुनिकता के आभिजात्य को संवेदना, अनुभूति और चिन्तन के स्तर पर स्वीकार और व्यक्त किया गया है। इसकी कथा का सम्बन्ध द्वितीय विश्व युद्ध से अवश्य है, किन्तु उसका कोई स्पष्ट और जीवन्त चित्र उपन्यास में दिखाई नहीं पड़ता। इसका नायक दूसरे विश्व-युद्ध के बर्मा के सीमान्त प्रदेश में भी भाग लेता है, किन्तु उपन्यास में उससे कोई महत्त्वपूर्ण धारणा और दृष्टि नहीं बनती। अन्तत: यही कहा और माना जा सकता है कि विवेच्य उपन्यास में देश-काल और वातावरण का प्रयोग परम्परित रूप में न होकर, आधुनिकता के आभिजात्य की अभिव्यक्ति के नवीन रूपों में हुआ है। कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'नदी के द्वीप' में आभिजात्य वातावरण को चुना और अभि-व्यक्त किया गया है।

अपने-अपने अजनबी : 'अपने-अपने अजनबी' की घटना विदेशी है, पात्र और वातावरण विदेशी हैं। लेकिन व्यापक दृष्टि से विचार करने पर लगता है कि यह उपन्यास किसी विशेष देश-काल और वातावरण की सीमा को स्वीकार नहीं करता। वस्तुत: इसमें उपन्यासकार का अभीष्ट कहानी गढ़ना या कहना न होकर चिन्तन-दर्शन और प्रत्ययों का सम्प्रेषण भर करना है। बर्फ से घिरे कब्रनुमा काष्ठ-गृह, पुल पर बसे एक बाजार तथा एक किसी ऐसे शहर की चर्चा है, जिस पर जर्मनों का आधिपत्य है। फिर भी, इससे किसी देशकाल या वातावरण पर कोई सुनिश्चित प्रकाश नहीं पड़ता। इसलिए पाठकों की एतद्-सम्बन्धी जिज्ञासा का अन्त

तक परिशमन नहीं हो पाता। यह अज्ञेय के लिए न काम्य है, न ही चिन्त्य ! अज्ञेय न परम्परित लेखक हैं और न उनका लेखन अभिधामूलक है। अत: देशकाल और वातावरण की लीक की उनसे अपेक्षा करना भी व्यर्थ है। अपने लेखन में उनका पूरा-का-पूरा जोर 'वस्तु' और उसके 'कथ्य' पर ही रहा है। अत: पाठकों के लिए भी अपेक्षित है—उपन्यास के केन्द्रीय दृष्टिकोण, प्रत्यय और समग्रत: 'कथ्य' का ग्रहण और अवबोधन करना।

अज्ञेय आधुनिक सन्दर्भों में **'नये दृष्टिकोण'**, **'प्रायोगिक सन्धान'** और **'मानव-मूल्यों के अन्वेषण'** पर बहुविध बल देते हैं। वे व्यक्ति के वाह्य क्रिया-कलाप पर जोर न देकर, आभ्यन्तर मन के विश्लेषण और उद्घाटन में अधिक रुचि लेते हैं। 'शेखर : एक जीवनी' में कथा-नायक शेखर के विद्रोही व्यक्तित्व को विश्लेषित किया गया है। साथ ही सामाजिक परिप्रेक्ष्य में उसकी जीवन-प्रक्रिया को विभिन्न कोणों पर विवेचित किया गया है। उपन्यासकार अज्ञेय का यह परिकथन कि **"शेखर की खोज अन्ततोगत्वा स्वातन्त्र्य की खोज है"**[1]—इसकी सोद्देश्यता को ही प्रकाशित करता है। स्पष्ट है कि 'शेखर : एक जीवनी' में उपन्यासकार का उद्देश्य **'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की खोज'** करना रहा है।

'नदी के द्वीप' में भी व्यक्ति मन को उद्घाटित करने का ही प्रयास किया गया है। **'शेखर : एक जीवनी'** में निहित उद्देश्य **'स्वातन्त्र्य की खोज'**, **'नदी के द्वीप'** में आकर **'मुक्ति'** (Freedom) का रूप धारण कर लेती है। वस्तुत: यह 'मूर्त्त' का अमूर्त्त की ओर प्रयाण है।

'अपने-अपने अजनबी' में व्यक्ति के वरण-स्वातन्त्र्य को लक्षित किया गया है। अज्ञेय का उद्देश्य इस उपन्यास के माध्यम से यह बतलाना और अभिव्यक्त करना है कि व्यक्ति को वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। मृत्यु ही अन्तिम सत्य है, जिसको स्वीकारना हमारी बेबसी है। मृत्यु सबसे बड़ा अजनबी है, फिर भी हमें उसका वरण करना ही पड़ता है। अज्ञेय ने एक स्थल पर लिखा है : "व्यक्ति के वरण-स्वातन्त्र्य की—अहं की परितुष्टि खोजने के अधिकार की विशद् चर्चा एक उपन्यास ('अपने-अपने अजनबी') में की गई है। यहाँ भी सिद्धान्त यही है कि दुर्दम दावेदार अहं के लिए वरण का एक ही मार्ग खुला हो सकता है—मृत्यु के वरण का, यही उसका अन्तिम दावा हो सकता है। अहं की परितुष्टि का अधिकार मान्य समझा गया है। पर यह भी स्पष्ट कहा गया है कि वह अनिवार्यतया

1. आत्मनेपद, पृ० 66

स्वघातिनी ही हो सकती है। यह स्पष्ट कहा नहीं गया, पर **'लेखक के उद्देश्य'** में निहित अवश्य है कि पश्चिम की दृष्टि ऐसी ही दृष्टि है।[1]

उपर्युक्त विवेचन और अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय का उद्देश्य अपने उपन्यासों में जड़ीभूत और निष्क्रिय परम्परा को नकार कर, नये दृष्टिकोण तथा मानव-मूल्यों की खोज और स्थापना करना है। इसमें उन्हें सफलता भी काफी हद तक प्राप्त हुई है।

ऊपरोक्त सारी बातें और चर्चा तो दृष्टिकोण, उपपत्ति और मान्यताओं से सम्बद्ध हैं। अभी-अभी हम इस निष्कर्ष-बिन्दु तक पहुंच चुके हैं कि उपन्यासकार अज्ञेय को अपने दृष्टिकोण और सिद्धान्त के निरूपण में बेहद सफलता हासिल हुई है यानी वस्तु और विषय से आबद्ध सफलता। उन्होंने विषय-निरूपण के लिए जिस **भाषा और शिल्प** का प्रयोग किया है, उस पर किंचित् विचार करें :

अज्ञेय का भाषीय पक्ष काफी प्रबल है। इनकी रचनाओं में भाव और प्रत्यय भाषा के साथ एक-रंग होकर अभिव्यक्त होते हैं। इनके भाव महानता के जिस क्षितिज को छूते हैं, उनकी भाषा क्षितिज की छाती (वक्ष) पर आसनस्थ होती है। वस्तुतः इनकी भावानुभूतियों के भीतर से भाषा का प्रस्फुटन होता है और दूसरी ओर भाषा इनकी रचनात्मक संवेदनाओं को ऊर्जा और प्राणवत्ता प्रदान करती है। अज्ञेय सतत् रूप से 'अच्छी भाषा' की तलाश करते रहते हैं; क्योंकि वही इनकी सिद्धि है। इनका कहना है 'मैं उन व्यक्तियों में से हूँ—और ऐसे व्यक्तियों की संख्या शायद दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है—जो भाषा का सम्मान करते हैं और अच्छी भाषा को अपने आप में एक सिद्धि मानते हैं।"[2]

ये विषय और वस्तु के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग करते हैं। यही कारण है कि रचनात्मक संदर्भों में इनकी भाषा नयी अर्थवत्ता ग्रहण व व्यक्त करती है। स्वयं ये मानते हैं कि **"अज्ञेय की भाषा सर्वत्र संयत रहती हुई विषय और वस्तु के साथ काफी बदलती रहती है।"**[3] इससे साफ जाहिर है कि भाव और भाषा इनकी रचनाओं में सिक्के के दो पहलू हैं, जिनकी मूल्यवत्ता परस्पर एक-दूसरे को लेकर ही सुरक्षित है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में—**"अज्ञेय ने मानवीय व्यक्तित्व की व्याख्या में भाषा को अनिवार्य तत्त्व माना है। भाषा उनके लिए माध्यम नहीं, अनुभव ही है। उन्होंने भाषा और अनुभव के अद्वैत को स्थापित करने का यत्न किया है।"**[4]

1. अज्ञेय : हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य पृ० 130
2. अज्ञेय : आत्मनेपद, पृ० 240।
3. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, पृ० 108
4. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, पृ० 7

इनके तीनों ही उपन्यासों में भाषा और भाव का अद्वैव-स्थापन मिलता है। डॉ० देवराज का यह परिकथन बिल्कुल सही है कि **"अज्ञेय के उपन्यासों में हमारी भाषा एक अनोखी सादगी, स्वाभाविकता एवं स्वच्छता, कान्ति और परिपूर्णता लिए हुए दिखाई पड़ती है। उसका प्रत्येक शब्द मानो हाल ही में टकसाल से ढलकर नई चमक तथा व्यंजकता लेकर आगत हुआ है।"**[1]

एक बात और! अज्ञेय की भाषा-सम्बन्धी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिन शब्दों का इन्होंने प्रयोग किया है, वह अनुकूल संदर्भों में ही। यही कारण है कि इनके प्रयुक्त शब्दों के बदले किसी पर्यायवाची शब्दो का विन्यास करना अर्थ-संगत नहीं हो सकता। इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि अज्ञेय की गहरी पैठ शब्दों की आत्मा तक वर्तमान है। इस दृष्टि से 'नदी के द्वीप' की भाषा-शैली के सम्बन्ध में डॉ० देवराज के ये शब्द उद्धृत किये जा सकते हैं कि "संस्कृत तथा हिन्दी के कोषकार अभी तक पर्यायवाची शब्दों से परिचित रहे हैं, समानार्थक दीखने वाले शब्दों के अर्थों से 'शेड्स' के कितने अन्तर हो सकते हैं—कितने अन्तरों को देखा और प्रेषित किया जा सकता है—यह अनुभूति 'नदी के द्वीप' के पाठकों को विशेष उपलब्ध होगी।"

अज्ञेय के उपन्यासों की भाषा में कसावट और सामासिकता है। वे भाषा की लक्षणा और व्यंजना शक्ति से अधिक काम लेते हैं। उनके शब्दों में प्रसंगों की साफगोई होती है। अर्थ की गरिमा और गंभीरता उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके भाव भाषा की तलाश नहीं करते। अतः उनमें एक विशेष प्रकार की सहजता होती है। भाषा की तराश उनमें अवश्य मिलती है, जो आयासिक न होकर उनके संस्कारों से निःसृत होती है। भाषा के धरातल पर अज्ञेय प्रतीक, बिम्ब और चित्रात्मकता से काम बहुत लेते हैं। यही कारण है कि उनके 'कथ्य' और 'अर्थ' छन-छनकर अभिव्यक्त होते हैं।

शिल्प—अज्ञेय मानव-मन के आभ्यन्तर के कथा-शिल्पी हैं। अतः इन्होंने अपने उपन्यासों में 'वस्तु' अथवा 'कथ्य' के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत् शिल्प के प्रति भी प्रोयोगिक अन्वेषण किया है। इसका एक बहुत बड़ा कारण उसकी मनो-वैज्ञानिकता भी है। उपन्यासकार अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में जिन शैलियों को प्रयुक्त किया है, उनमें निम्नांकित शैलियाँ मुख्य हैं :

(1) आत्मा-विश्लेषणात्मक शैली
(2) पत्रात्मक शैली
(3) डायरी:प्रधान शैली

1. डॉ० देवराज : आधुनिक समीक्षा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 138

(4) उद्धरण शैली
(5) प्रत्यक्-दर्शन शैली
(6) चेतना-प्रवाह शैली तथा
(7) स्वप्न (विश्लेषण) शैली

इनके अतिरिक्त उनके उपन्यासों में चलचित्र-निर्माण की 'क्लोज अप' (Close up) तथा 'स्लो अप' (Slow up) शैली का भी यथावसर प्रयोग किया गया है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने इसे विश्लेषित करते हुये लिखा है : 'प्रतीकात्मक अनुभूतियों के मानसिक आत्मनिष्ठ तत्त्वों की विवृत्ति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशिष्टता है। पर इस मानसिक तत्त्व का पूर्ण परिचय उस समय नहीं प्राप्त होता, जबकि मनुष्य को प्रवृत्त करने वाली बाह्य वस्तु (Stimulus) के आघात से प्रतिक्रिया (Response) में प्रवृत्त हो जाये। न ही, इस तत्त्व का दर्शन प्रवर्त्तक-वस्तु और उसके आघात से उत्पन्न प्रतिक्रिया के माध्यम में पड़ने वाले अवसर जबकि मनुष्य का अन्तस् आन्दोलित होता है, के समय हो सकता है। जीवन में इन दोनों के मध्य पड़ने वाली अवधि अत्यन्त अल्प तथा नगण्य मालूम पड़ती है और इसके वास्तविक रूप को देखना सहज नहीं। पर मनुष्य ने ऐसे अणुवीक्षण-यन्त्र आविष्कृत कर लिये हैं जिनके सहारे वह कीटाणुओं को हजारों गुणा बढ़ा कर देख सकता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना और प्रतिभा के सहारे इस बीच में पड़ने वाली अवधि को बढ़ा कर उसका लेखा-जोखा ले सकता है और पाठकों को भी इसमें सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित कर सकता है। 'नदी के द्वीप' में इस कला का पूर्ण निदर्शन है।

'नदी के द्वीप' की कथा बहुत छोटी है। ××× पर इन बाहरी क्रियाओं के अन्तराल में जो अवधि है, उसको कल्पना के अणुवीक्षण से विस्तृत रूप में देखा गया है। अंग्रेजी में कहें तो कह सकते हैं कि (Infinite expansion of moment) अर्थात् एक लघु क्षण को दीर्घजीवी अनन्त बना कर देखा गया है। टेकनीक में अज्ञेय की कला चलचित्र-निर्माण की उस पद्धति से मेल खाती है, जिसे 'क्लोज अप' (Close up) और 'स्लो अप' (Slow up) कहते हैं। इन दोनों पद्धतियों के विचित्र संयोग से 'नदी के द्वीप' में एक विचित्र सुन्दरता आ गई है, जो अन्य औपन्यासिकों की रचना में दुर्लभ है। ××× उस प्रसंग का वर्णन जहाँ रेखा भुवन को जीवन का एस्टासी (Ectasy) देती है और स्वयं अपने को तृप्त (Fulfilled) पाती है तथा उसके हेमरेज के प्रसंग साहित्यिक क्लोज अप (Close up) के उद्धरण में आ सकते हैं।'[1]

1. डॉ० देवराज [उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कथा साहित्य और मनोविज्ञान, पृष्ठ 184-186

'अपने-अपने अजनबी' में 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' के शिल्प-प्रयोग से आगे अज्ञेय नहीं बढ़ पाये हैं। इस कृति में आत्म-विश्लेषण और प्रत्यक् दर्शन शैली का अपेक्षाकृत आधिक्य है। अत: कहा जा सकता है कि शिल्प की दृष्टि से 'नदी के द्वीप' उत्कर्ष-बिन्दु पर अधिष्ठित है, न केवल अज्ञेय के अपने ही उपन्यासों की तुलना में अपितु हिन्दी-उपन्यास के बीच भी। यही कारण है कि अज्ञेय के उपन्यास शिल्प की दृष्टि से भीड़-भाड़ से सर्वथा अलग होकर अपनी विशिष्टता ज्ञापित करते हैं। अन्तत: अज्ञेय के उपन्यासों के शिल्प-संधान की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि विवाद से सर्वथा परे है।

5

अज्ञेय के उपन्यास

प्रयोग-प्रक्रिया : प्रत्यय और प्रभाव

अज्ञेय प्रयोग के प्रवर्त्तक और पुरोधा दोनों हैं। इनके उपन्यासों के विषय और विधान में समग्रत: प्रयोग का सातत्य मिलता है। अपने उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने एक ओर परम्परित और निष्क्रिय मूल्यों को नकारने का उपक्रम किया है तो दूसरी ओर आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार संवेदना और चिंतन के स्तर पर किया है। उसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि उनकी औपन्यासिक कृतियों में समस्या का निदान न होकर प्रश्नवाचक चिह्नों का आकलन ही अधिक मिलता है। परम्परा से आगत प्रत्ययों को संस्कार-रूप में ग्रहण और उसका बौद्धिक विश्लेषण कर ये उसका पुन: सृजन करते हैं। बौद्धिकता के कारण इनके प्रत्यय संतुलित प्रतीत होते हैं। अत: कह सकते हैं कि अज्ञेय की औपन्यासिक रचना-प्रक्रिया का प्रमुख तत्त्व **बौद्धिकता** है।

रचना-प्रक्रिया का प्रश्न सम्प्रेषणीयता से जुड़ा हुआ है। रचनाकार अपनी रचना में सम्प्रेषण किसी-न-किसी अनुभूत सत्य का ही करता है, जिसका सम्बन्ध उसके संस्कार और उसकी संवेदनाओं से होता है। प्लेटो का कहना है कि रचनाकार की आत्मा में एक प्रकृत-उन्माद होता है, वही उसे रचना की प्रेरणा देता है। अज्ञेय की औपन्यासिक रचनाओं में ऐसी ही उपपत्ति केन्द्रस्थ है कि 'उन्माद से बचने के लिये सृजन अनिवार्य है।' रचनाकार वस्तुत: सृजन से अधिक अपनी अनुभूतियों का पुनर्सृजन करता है, क्योंकि सृजन की पहली भूमिका में वह अपनी अनुभूतियों को वर्गीकृत कर अभिव्यक्ति के लिये उनका चयन करता है। अज्ञेय की कसौटी यह है कि "कहाँ तक कवि (रचनाकार) नई परिस्थिति को स्वायत्त कर सका है, इसी से हम निश्चय करते हैं कि वह कितना बड़ा कवि (रचनाकार) है" (तीसरा सप्तक)।

'शेखर : एक जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' में उपन्यास-कार अज्ञेय ने परम्परा-मुक्त अनुभवों और मूल्यों को स्वायत्त कर, उनको विवेचित और विश्लेषित किया है। वे रस के आग्रही न होकर मूल्यों के आधुनिकीकरण के

अधिक हिमायती हैं। बौद्धिकता और मनोवैज्ञानिकता उनकी रचना-प्रक्रिया के विशिष्ट तत्त्व हैं।

अज्ञेय के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक संचेतना का प्राबल्य है। बौद्धिकता और चिन्तनशीलता उनके उपन्यासों की रीढ़ की हड्डी है। उनमें दार्शनिक की-सी तार्किकता और विश्लेषण-क्षमता है। उनके उपन्यासों में चिंतन की उभार अधिक है। वे सदैव बड़े प्रत्ययों (Great Ideas) के ग्रहण में विश्वास करते हैं। जहाँ तक दार्शनिक चेतना का प्रश्न है, अज्ञेय के उपन्यासों में भारतीय बौद्ध दर्शन तथा पश्चिमी अस्तित्ववाद का समीकरण उपलब्ध होता है। बौद्ध दर्शन के दुःखवाद की छाया इनके सारे उपन्यासों पर छा गई है। यह बात दूसरी है कि इनका यह दुःखवाद छायावादी काव्य के दुःखवाद अथवा पीड़ावाद से काफी मेल रखता है, क्योंकि स्रोत तो उनका वही है। उनका दुःखवाद 'क्रिश्चियन' 'सफरिंग' से भी प्रभाव ग्रहण करता है। 'नदी के द्वीप' में 'मुक्ति' की खोज का प्रयत्न है। यह खोज आत्मपीड़न के मूल्य पर होती है और ऐसी ही स्पष्ट धारणा क्रिश्चियन-सफरिंग की भी है।

अज्ञेय के परवर्ती उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' पर अस्तित्ववाद का सीधा प्रभाव लक्षित होता है। अस्तित्ववाद व्यक्तित्ववादी दर्शन है। इसमें व्यक्ति के अस्तित्व को प्रमुखता दी गई है। ईश्वर की कल्पना निराधार है। कीर्कगार्द की घोषणा के अनुसार ईश्वर मर चुका है। व्यक्ति के 'अहम्' के अलावा और कुछ भी सत्य नहीं है। व्यक्ति के 'अस्तित्व' के लिये निर्वाचन अथवा चयन की स्वतंत्रता है, और उसी के अनुसार वह फल का भोक्ता होता है। अस्तित्ववाद नकारवादी, निराशावादी और क्षणवादी दर्शन है, जो क्षण को ही सर्वेसर्वा मानता है। 'अपने-अपने अजनबी' में योके अपने 'अस्तित्व' को ही सब कुछ मानती और ईश्वर की मृत्यु की घोषणा करती हुई कहती है कि 'क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है?' प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त्त के इस कथन को कि 'मैं सोचता हूँ, इसलिये 'मैं' मैं हूँ', कीर्केगार्द पलट कर तार्किक ढंग से कहता है कि 'मैं हूँ, इसलिये मैं सोचता हूँ।' 'अपने-अपने अजनबी' में योके का तर्क भी कुछ इसी प्रकार का है। वह कहती है: "मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि मैं जीती न रहूँगी—लेकिन जब न रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूं—कि मैं मर चुकी हूँ?" × × × अपनी मृत्यु का क्या मतलब है? वह केवल दूसरे को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ, इसलिये हमारे साथ भी होगा। × × × "मैं हूँ, के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है, "मैं नहीं हूँ" यह बोध नहीं है, बल्कि बोध का न होना है।"

अस्तित्ववाद में काल-सत्य को 'क्षण' में ही मापा गया है। क्षण ही सब कुछ है। अज्ञेय ने 'अपने-अपने अजनबी' (पृ० 21) में लिखा है : "क्षण वही है जिसमें अनुभव तो है लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत, भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।" स्पष्ट है कि अज्ञेय के उपन्यासों पर एक ओर बौद्ध दर्शन का प्रभाव पुरजोर तौर पर लक्षित होता है, तो दूसरी ओर अस्तित्ववाद का। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के मतानुसार, "अतित्ववाद से अज्ञेय ने कुछ बौद्धिक उत्तेजना पायी हो, पर अपने समूचे उत्तरकालीन कृतित्व में लेखक का यत्न यही रहा है कि भारतीय परिस्थितियों में अस्तित्ववाद से कोई बड़ी और अधिक संगत दृष्टि विकसित की जाये।"[1] पुनः वे आगे लिखते हैं : "अज्ञेय के इस चिन्तन में जीवन-प्रियता के भारतीय आधार को ईसाई आस्था—विशेषतः इटली के 'परिपक्व वीर' मठ की प्रेरणा—और जापान की जेनपद्धति ने भी किसी सीमा तक समृद्ध किया है और बाह्य प्रभावों को रचनात्मक भाव से आत्मसात् करने के लिए लेखक बराबर प्रस्तुत रहा है।"

स्पष्ट है कि अज्ञेय के उपन्यासों पर बौद्ध दर्शन तथा अस्तित्ववाद का एकजुट प्रभाव है। इनके अतिरिक्त उन्होंने ब्राउनिंग, डी० एच० लारेन्स, वर्गसाँ, सार्त्र तथा कीर्केगार्द आदि से भी प्रेरणा ग्रहण की है। सिगमण्ड फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का तो गहरा प्रभाव इनके उपन्यासों की चेतना के पोर-पोर में सम्पृक्त है। फलतः इनके उपन्यासों के रग-रग से मनोवैज्ञानिक संचेतना प्रस्फुटित होती है। रोम्याँ रोला के 'ज्याँ क्रिस्ताफ' के साथ इनके शेखर की तुलना की जाती रही है, जिसके सम्बन्ध में इनका स्पष्टीकरण देखा जा सकता है : 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' के अनवरत आत्मशोध और आत्म-साक्षात्कार का जो चित्र रोलाँ ने प्रस्तुत किया है, उससे मुझे अवश्य प्रेरणा मिली : लेकिन न तो 'शेखर' उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्ताफ़' जैसा उपन्यास है, न 'शेखर' वैसा पात्र है। समानता इतनी ही है कि जैसे 'क्रिस्ताफ़' में लेखक एक आत्मान्वेषी के पीछे उसका चित्र खींचता चलता है, वैसे ही मैं दूसरे आत्मान्वेषी के पीछे चला हूँ। 'क्रिस्ताफ़' में सर्वत्र उपन्यासकार अन्य पुरुष में लिख रहा है, शेखर का रूप उत्तम पुरुष में लिखी गई आत्मकथा का है, लेकिन यह तो तंत्र यानी टेकनीक की बात है।"[2] इनके उपन्यासों पर अनेक प्राच्य और पाश्चात्य लेखकों का प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु यह दूषण (?) भी अज्ञेय के उपन्यासों में स्यात् भूषण बनकर 'सौन्दर्य' का व्यंजन

1. 'हिन्दी-साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ, पृ० 5
2. अज्ञेय : 'आत्मनेपद', पृ० 64

बन जाता है। डॉ० रामदरश मिश्र का इस संदर्भ में यह कहना, अत: सही प्रतीत होता है कि अज्ञेय पर फ्राइड, एडलर, युंग, मार्क्स, सार्त्र, इलियट आदि अनेक चिन्तकों का प्रभाव है किन्तु वे सब मिलाकर 'अज्ञेय' हैं। इस प्रकार इनका कृतित्व अनुभवों के सातत्य और नैरन्तर्य्य को समग्रत: आत्मसात् करता चलता है।

ऊपर के समग्र विवेचन-विश्लेषण से इस निष्कर्ष तक आसानी से पहुँचा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यासों में 'वस्तु' और 'शिल्प' का प्रायोगिक संधान है, रचना-प्रक्रिया की बौद्धिकता तथा सम्प्रेषणीयता है तथा बौद्ध दर्शन, ईसाई 'सफरिंग' और सबसे बढ़कर अस्तित्ववादी धारणा की सम्पुष्टि की प्रयत्न-साधना है। इस प्रकार, इनके उपन्यासों में निहित और व्यक्त चिन्तन-दृष्टि की नव्यता इसकी मूल्यवत्ता को विधेयात्मक तौर पर प्रमाणित करती है।

अज्ञेय के उपन्यासों का 'वस्तु'-तत्त्व जितना अधिक संश्लिष्ट है, उससे भी अधिक कहीं उनमें 'गहराई' है। इसीलिए 'विषय' और 'वस्तु' के अनुरूप उनमें शैल्पिक नव्यता और प्रायोगिक संधान की प्रमुखता लक्षित होती है। अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में आधुनिकता की चुनौती का साक्षात्कार संवेदना के स्तर पर किया है। अत: उनमें जीवन के उतार-चढ़ाव की स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। उनमें न कोई आवरण है, न किसी प्रकार का आरोपण-व्यापार। उनकी सबसे बड़ी निपुणता इस बात में है कि अपने अनोखे शिल्प के माध्यम से वे जीवन के आवरणों और परतों को अनावृत्त तथा विश्लेषित करते चलते हैं। उनके उपन्यासों का 'वस्तु' तत्त्व जितना जटिल और गहरा है, 'शिल्प' उतना ही नया, आधुनिक और जीवन्त। उनकी यही 'जीवन्तता' उनके परवर्त्ती उपन्यासकारों का पथ-प्रदर्शन करती रही। अत: निष्कर्ष के बतौर कहा जा सकता है कि अज्ञेय के उपन्यासों का रंग और स्वाद अकेला और अनूठा है : सबसे पृथक् और विशिष्ट।

●●

6

परिशिष्ट—1

अज्ञेय—व्यक्ति

1. पूरा और वास्तविक नाम—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'।

2. जन्म-स्थान—गोरखपुर के समीप देवरिया जिले के कसमा[1] पुरातत्त्व-खुदाई शिविर में।

3. जन्म-काल—7 मार्च, सन् 1911 ई०।

4. पिता का नाम—डॉ० हीरानंद शास्त्री।

5. बाल्यकाल—लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में व्यतीत किया।

6. शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा घर में हुई किन्तु उच्च शिक्षा मद्रास और लाहौर (पंजाब) में। अपने पिता (पुरातत्त्व-वेत्ता तथा शोधक) डॉ० हीरानंद शास्त्री के सम्पर्क में संस्कृत-साहित्य एवं भारतीय कलाओं के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन किया। साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ बमबाजी तथा विषैले रसायनों के अध्ययन में भी रुचि लेते रहे। एम०ए० (अंग्रेजी) उत्तरार्द्ध में क्रांतिकारी षड्यंत्रों में शामिल होने के अपराध में गिरफ्तार होने के कारण विधिवत् अध्ययन छोड़ना पड़ा।

7. विशेष—आरम्भ से क्रांतिकारी और विद्रोही स्वभाव के रहे। इसलिए 'परम्परा' के प्रति सर्वथा आक्रोश, विद्रोह और नकारात्मक स्वर तथा 'प्रयोग' एवं 'स्वातंत्र्य के अन्वेषक' के रूप में प्रख्यात। यही कारण है कि अज्ञेय का निजी तथा लेखक—व्यक्तित्व भीड़-भाड़ से सर्वथा अलग और विशिष्ट धरातल पर अधिष्ठित है, जिसे पहचानने में किसी को न तो कोई भ्रम होता है और न ही

1. 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा है :
"शिशु-मानस के चित्रण की सच्चाई के लिए मैंने 'शेखर' के आरम्भ के खण्डों में घटनास्थल अपने जीवन से ही चुने हैं···" (पृ० 11)।
स्पष्ट है कि शेखर के जन्म और जीवन की कहानी जैसे अज्ञेय के स्वयं निजी जन्म-जीवन की कहानी (वृत्त अथवा घटना) बन गई हो। इस धारणा की विश्वसनीयता तथा पुष्टि और भी अधिक वहाँ (उन स्थलों पर) हो जाती है, जहाँ-कहीं उन्होंने बुद्ध के संकेतों से सम्बद्ध प्रसंगों का आयोजन व आलेखन किया है (जैसे, 'शेखर : एक जीवनी' भाग-1, संस्करण 1966, पृ० 47-48)।

कठिनाई। विद्रोही व क्रांतिकारी प्रकृति के प्रमाणस्वरूप सन् 1930 ई० की वह घटना अपने आप में पर्याप्त है, जबकि पुलिस के साथ कुछ महीने चोर-छिपौवल करके (नवम्बर, सन् 1930 ई० में) 'मुहम्मद बख्श' नाम से पकड़े जाकर वे एक महीना लाहौर किले में और साढ़े तीन वर्ष दिल्ली और पंजाब की जेलों में रहे। पुनः दो मास लालकिले में एवं दो वर्ष नज़रबन्द रहे।

8. व्यवसाय—व्यवसाय के नाम पर अज्ञेय ने तीन साल (सन् 1943-1946 ई०) तक सेना (फौज) में भर्ती होकर, आसाम-बर्मा सीमान्त पर तथा युद्ध समाप्त होने पर पंजाब-पश्चिम-सीमान्त पर सेवा की। तदनन्तर (लगभग दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक) 'ऑल इण्डिया रेडियो' में नौकारी करते रहे। फिर, कुछ समय बाद भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्राध्यापक के रूप में वे अमेरिका में अध्यापन-कार्य करते रहे।

9. हॉबी—साहित्य और लेखन के अतिरिक्त यायावर-वृत्ति, चित्रकला, मूर्तिकला, फोटोग्रॉफ़ी और मनोविश्लेषण, बढ़ईगीरी, मोचीपन आदि-आदि।

10. पत्रकारिता—'सैनिक' (आगरा), 'बिजली' (पटना, बिहार), 'विशाल भारत' (कलकत्ता) का सम्पादन। फिर 'प्रतीक' (द्वैमासिक—इलाहाबाद एवं दिल्ली, सन् 1946—51) का स्थापन व सम्पादन-कार्य। हिन्दी के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक समाचार-पत्र 'दिनमान' के सर्वप्रथम सम्पादक। 'नवभारत टाइम्स' का सम्पादन-कार्य भी किया। इस प्रकार, पत्रकारिता अज्ञेय के लेखक-व्यक्तित्व के अभिन्न एवं अनन्य अंग के साथ-साथ, इनकी महत् उपलब्धि रही है।

11. विदेश-यात्रा—सन् 1955 ई० में यूनेस्को की वृत्ति पर यूरोप गए। सन् 1957 ई० में जापान और पूर्वी एशिया का परिभ्रमण किया। 1966 में पहली बार यूरोप की यात्रा की। अमेरिका की यात्रा एकाधिक बार की। इसके अतिरिक्त रूमानिया, यूगोस्लाविया, रूस तथा मंगोलिया आदि का भी उन्होंने विधिवत् भ्रमण किया।

वस्तुतः अज्ञेय का जन्मजात यायावर बने रहना उनके प्रगतिशील व्यक्तित्व का एक ऐसा ऐकान्तिक वैशिष्ट्य है, जो हर क्षण 'प्रयोग के अन्वेषण' तथा 'सापेक्ष चिन्तन' के लिए इन्हें उत्प्रेरित किया करता है। इस दृष्टि से, उनके भ्रमणशील जीवन से सम्बद्ध वृत्तान्तों के संग्रह **'अरे यायावर रहेगा याद'** (सन् 1953 में प्रकाशित) की सार्थकता स्वयंसिद्ध हो जाती है।

पुरस्कार : 'आँगन के पार द्वार' साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत। 'कितनी नावों में कितनी बार' (काव्य-संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार (एक लाख रु०) से सन् 1978 में पुरस्कृत।

7

परिशिष्ट—2

अज्ञेय के उपन्यास-ग्रंथ

1. शेखर : एक जीवनी, भाग 1-2
2. नदी के द्वीप
3. अपने-अपने अजनबी

अज्ञेय के अन्य ग्रंथ (जिनकी सहायता ली गई)

4. आत्मनेपद
5. हरी घास पर क्षण भर
6. लिखि कागद कोरे
7. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य

अपरोक्ष अन्य सहायक ग्रंथों की सूची

8. परख—जैनेन्द्र कुमार
9. सुनीता—जैनेन्द्र कुमार
10. त्यागपत्र ,,
11. कल्याणी ,,
12. सुखदा ,,
13. विवर्त्त ,,
14. व्यतीत ,,
15. जयवर्द्धन ,,
16. मुक्तिबोध ,,
17. साहित्य का श्रेय और प्रेय—जैनेन्द्र
18. संन्यासी—इलाचन्द्र जोशी
19. जिप्सी—इलाचन्द्र जोशी
20. सुबह के भूले ,,
21. जहाज का पंछी ,,
22. ऋतुचक्र ,,
23. विवेचना ,,
24. विश्लेषण ,,
25. आज का हिन्दी-उपन्यास—डॉ० इन्द्रनाथ मदान
26. विचार और अनुभूति—डॉ० नगेन्द्र
27. विचार और विश्लेषण—डॉ० नगेन्द्र
28. कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञान और उपलब्धि—प्रो० जगदीश पाण्डेय
29. हिन्दी-उपन्यास : उपलब्धियाँ—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
30. नया साहित्य : नये प्रश्न—नन्ददुलारे वाजपेयी
31. हिन्दी उपन्यास—डॉ० सुषमा धवन
32. अज्ञेय का कथा-साहित्य—ओम् प्रभाकर
33. आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान—डॉ० देवराज उपाध्याय

34. जैनेन्द्र और उनके उपन्यास—रघुनाथ शरण झालानी
35. प्रतिक्रियाएँ—डॉ० देवराज
36. आधुनिक समीक्षा—,,
37. हिन्दी नवलेखन—रामस्वरूप चतुर्वेदी
38. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या—रामस्वरूप चतुर्वेदी
39. हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ— ,, ,,
40. हिन्दी कथा-साहित्य—गंगाप्रसाद पाण्डेय
41. साहित्यानुशीलन—शिवदानसिंह चौहान
42. हिन्दी उपन्यास—रामदरश मिश्र
43. उपन्यासकार अज्ञेय—केदार शर्मा
44. हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव
45. हिन्दी-उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास—डॉ० प्रेमनारायण टंडन
46. अज्ञेय के उपन्यासों का शिल्प-विधान—डॉ० सत्यपाल चुघ
47. अज्ञेय का रचना-संसार—सं० डॉ० गंगा प्रसाद विमल
48. अस्तित्ववाद और नयी कविता—प्रकाश दीक्षित

पत्र-पत्रिकाएं

1. आलोचना—इतिहास विशेषांक, 2. साहित्य-संदेश, अक्तूबर, 1943
3. ज्ञानोदय, जुलाई 1963, 4. प्रतीक, 5. माध्यम।

ENGLISH

1. The Making of Literature—Scott. James
2. English Literature and Ideas in the Twentieth Century —Dr. H.V. Routh
3. The Craft of Fiction—Parsi Luwak
4 The Psychological Novel—Leon Edel
5. English Literature of the 20th Century—A.S. Collins
6. Understanding Human Nature—Adler
7. Tendencies of Modern Novel—H. Walpole
8. Histoiy of English Literature—Cazaimain
9. Literature and Reality—H. Fast
10. Psycho-Analytical Method and the doctrine of Freud —Dalbez.
11. Sartre—Iris Murdoch.
12. What is Literature—Jean Paul Sartre. ●●